

# अध्यात्म प्रवचन

प्रवचन

अध्याय श्री अमर मुनि

संपादन

श्री विजय मुनि शस्त्री

# अध्यात्म-प्रवचन

(द्वितीय भाग)

प्रवचन

उपाध्याय अमर मुनि

संपादन

शास्त्री विजय मुनि

पुस्तक

अध्यात्म-प्रवचन  
(द्वितीय भाग)

विषय

अध्यात्म : ज्ञान-मीमांसा, आचार-मीमांसा

प्रवचन

उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादन

शास्त्री विजय मुनि

प्रकाशन

प्रथम बार  
वि. सं. २०४८, वैशाख  
मई, १९९१

प्रकाशक

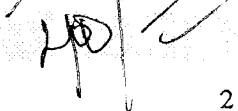
सन्मति ज्ञान पीठ, जैन भवन,  
लं. हामण्डी, आगरा - 282002

मुद्रण सज्जा

राजेश सुराना द्वारा :  
दिवाकर प्रकाशन  
A-7, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड  
आगरा - 282002

मूल्य

तीस रुपया सिर्फ



## सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव, प्रज्ञामहर्षि उपाध्याय कविरत्न, दार्शनिक सूक्ष्मप्रज्ञ, परम श्रद्धेयवर श्री अमरचन्द्र जी महाराज का सन् १९६० में कलकत्ता वर्षावास था। उस समय प्रवचन-सरिता का जो प्रवाह प्रवाहित हुआ था, उनका आलेखन तथा आकलन, प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने किया था। उस आधार पर प्रवचनों का सम्पादन मैंने किया था—अध्यात्म-प्रवचन। जन-जन के मन को यह पुस्तक अतिप्रिय एवं रुचिकर लगी। आज से दस वर्ष पूर्व ही पुस्तक अनुपलब्ध हो चुकी थी। लेकिन अनेक कारणों से उसका पुनः प्रकाशन समय रहते नहीं हो सका था।

अध्यात्म-प्रवचन दो भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्रथम भाग में दर्शन-मीमांसा है, जिसमें सम्यग्दर्शन के सभी अंगों पर विस्तार से वर्णन किया गया है। इतना मूल-स्पर्शी तथा तलस्पर्शी वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होगा। द्वितीय भाग में ज्ञान-मीमांसा और आचार-मीमांसा का बहु आयामी वर्णन किया गया है। इस प्रकार दोनों भागों में मोक्ष के उपाय भूत साधनों का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। मोक्ष की साधना ही जैन धर्म की मुख्य साधना कही जा सकती है।

विगत वर्ष यदि मैं ग्वालियर न गया होता, तो द्वितीय भाग कभी का प्रकाशित हो गया होता। फिर बीच-बीच में मेरा स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं था। ग्वालियर से आगरा आकर भी स्वास्थ्य बिगड़ गया था। लेकिन मनोबल एवं संकल्प शक्ति से कार्य को सम्पन्न करके मुझे परम सन्तोष तथा परम आनन्द है। आचार-मीमांसा मैंने ग्वालियर से आकर आगरा में लिखी है। आचार को अधिक पारिभाषिक होने से बचाया है। अधिक से अधिक सरल भाषा में अभिव्यक्त किया है।

जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्यकार, सफल लेखक तथा कलाकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने मुद्रण, प्रकाशन एवं कलाकरण में पूरा-पूरा अवधान देकर पुस्तक को सुन्दरतम बना दिया है। उनके प्रकाशन समस्त जैन समाज में समादृत होते जा रहे हैं। पुस्तक को सुन्दर बनाने का समग्र श्रेय सुराना जी को ही जाता है।

—शास्त्री विजय मुनि

जैन भवन, मोतीकटरा

आगरा - १८-४-९९



## प्रकाशकीय

समग्र जैन समाज में सन्मति ज्ञानपीठ से प्रकाशित पूज्य गुरुदेव, उपाध्याय श्रद्धेय अमरचन्द्र जी महाराज का साहित्य अत्यन्त लोक-वल्लभ रहा है। साहित्य की विविध विधाएँ उनकी लेखनी से उद्भव पा चुकी हैं। कविता, काव्य एवं गीत। निबन्ध, कहानी, रूपक, कथा, संस्मरण और शास्त्र-समीक्षा अति लोकप्रिय रही है। विशेष रूप में उनका प्रवचन साहित्य बहुत प्रभावक और आकर्षक रहा है, और आज भी उसकी उपयोगिता एवं प्रासंगिता में कमी नहीं है।

इधर कुछ वर्षों में सन्मति ज्ञान पीठ से नया प्रकाशन नहीं हो पाया है। पुरातन प्रकाशन समाप्त हो चुके हैं। अतः उनके पुनः प्रकाशन की आवश्यकता है। नूतन प्रकाशन भी प्रारम्भ होने चाहिए। लेकिन पूज्य गुरुदेव राजगृही में विंराजित हैं। स्वास्थ्य भी उनका अनुकूल नहीं रहता। उनकी वृद्ध अवस्था भी एक कारणा है। यही कारण है कि नया प्रकाशन नहीं हो रहा है। लेकिन जनता में उनके साहित्य की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है।

इस स्थिति में, पूज्य विजय मुनि जी शास्त्री से हमने प्रार्थना की थी। प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन्होंने अध्यात्म-प्रवचन का द्वितीय भाग तैयार कर दिया है। प्रथम भाग का पुनः प्रकाशन भी हो चुका है। यह द्वितीय भाग भी छपकर तैयार हो चुका है। इसमें दो विषय हैं—ज्ञान-मीमांसा और आचार-मीमांसा। यह ग्रन्थ लगभग एक सौ साठ पेजों का है।

पूज्य विजय मुनि जी ने अध्यात्म-प्रवचन का परिवर्धन करके तथा सुन्दर संपादन करके हमारी प्रार्थना को तो सफल किया ही है, साथ में अपने गुरुदेव के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति भी की है।

पुस्तक का मोहक मुद्रण, प्रकाशन की चारुता और साज-सज्जा, आगरा नगर के प्रसिद्ध साहित्यकार, लेखक तथा विद्वान श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने की है। समाज में आपके प्रकाशन कलामय तथा अत्यन्त लोकप्रिय माने जाते हैं। अध्यात्म प्रवचन के द्वितीय भाग के सुन्दर प्रकाशन के लिए उन्हें धन्यवाद है।

अक्षय तृतीया

१६-५-९१

ओम प्रकाश जैन

मन्त्री, सन्मति ज्ञान पीठ

## विषय-सूची

ज्ञान-मीमांसा		१-९०
क्र. सं.		पृष्ठ सं.
१.	ज्ञान-मीमांसा	९
२.	प्रमाण-वाद	२४
३.	नय-वाद	३७
४.	निक्षेप-सिद्धान्त	४९
५.	ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय	५३
६.	नय ज्ञान की दो धाराएँ	६४
७.	संसार-मुक्ति का हेतु : ज्ञान	७१
८.	प्रमाण और तर्क	७९
९.	नय और निक्षेप	८३
१०.	भाषा-विज्ञान और व्याकरण	८५
११.	भाषा-विज्ञान में शब्दार्थ विचार	८८

\*\*\*\*\*

आचार-मीमांसा	११-१६८
१. आचार-मीमांसा	९३
२. श्रावक के तीन गुण-व्रत	१०८
३. श्रावक के चार शिक्षा-व्रत	११४
४. एकादश प्रतिमा : उपासक की उच्चतर साधना	१२४
५. श्रावक की दिनचर्या	१३०
६. श्रावक का सम्यक्त्य व्रत	१३६
७. मार्गानुसारी के पैंतीस बोल	१४१
८. जीवन का नियामक शास्त्र : आचार	१४५
*****	

अध्यात्म-प्रवचन

ज्ञान-मीमांसा



## १. ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध होता है। संयोग-सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों में ही हो सकता है। आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण उसे कहा जाता है, जो कभी भी अपने आश्रयभूत द्रव्य का परित्याग नहीं करता। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना करना सम्भव नहीं है। जैन-दर्शन ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण मानता है, जबकि कुछ अन्य दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण न मानकर एक आगन्तुक गुण स्वीकार करते हैं।

जैन दर्शन में कहीं-कहीं तो ज्ञान को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, कि आत्मा के अन्य गुणों को गौण करके ज्ञान और आत्मा को एक ही मान लिया गया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञान और आत्मा में भेद माना गया है, किन्तु निश्चय नय से ज्ञान और आत्मा में किसी भी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा में तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। ज्ञान आत्मा का एक निजगुण है, और जो निजगुण होता है, वह कभी अपने गुणी द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार दण्ड और दण्डी दोनों पृथक्भूत पदार्थ हैं, उस प्रकार आत्मा से भिन्न ज्ञान को नहीं माना जा सकता और आत्मा को भी ज्ञान से भिन्न नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। दोनों में किसी भी प्रकार का भेद किया नहीं जा सकता है।

सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का अन्तर समझने के लिए, एक बात आपको ध्यान में रखनी चाहिए। दर्शन-शास्त्र में और अध्यात्मशास्त्र में सम्यक्ज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ा-सा मतभेद है। दर्शनशास्त्र में ज्ञान का सम्यक्त्व ज्ञेय की यथार्थता पर आधारित रहता है। जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ अपने सही रूप में प्रतिभासित होता है, दर्शनशास्त्र में उस ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा जाता है। ज्ञेय को अन्यथा रूप में जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। उदाहरण के लिए, शक्ति और रजत को लीजिए। शक्ति को रजत समझ लेना अथवा रजत को शक्ति समझ लेना मिथ्याज्ञान है।

दर्शन-शास्त्र में सम्यक्ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है और मिथ्याज्ञान को अप्रमाण कहा जाता है। दर्शन-शास्त्र में प्रमेय की यथार्थता और अयथार्थता पर ही प्रमाण की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता निर्भर रहती है। दर्शन-शास्त्र में पदार्थ का सम्यक् निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण माना जाता है, और जो ज्ञान पदार्थ का सम्यक् निर्णय न करे, उस ज्ञान को दार्शनिक परिभाषा में अप्रमाण कहा जाता है।



अध्यात्म-शास्त्र में ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता सम्यक्दर्शन के सद्भाव और असद्भाव पर निर्भर रहती है। जिस आत्मा में सम्यक्दर्शन की ज्योति प्रज्वलित है, उस आत्मा का ज्ञान सम्यक्ज्ञान है और जिसमें सम्यक्दर्शन की ज्योति नहीं है, उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। यही कारण है, कि अध्यात्म-शास्त्र में ज्ञान को सम्यक् बनाने वाले सम्यक्दर्शन का कथन ज्ञान से पूर्व किया गया है।

अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि में मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान ही होता है, फिर भले ही वह कितना ही विशाल एवं कितना ही विविध क्यों न हो। मिथ्यादृष्टि आत्मा का बन्धन-मुक्ति पर विश्वास नहीं होता, उसका ज्ञान संसार के पोषण के लिए ही होता है, आदर और सम्मान आदि के लिए ही होता है, जबकि सम्यक्दृष्टि का ज्ञान बन्धन-मुक्ति के लिए होता है, आत्मविशुद्धि के लिए ही उसका उपयोग एवं प्रयोग किया जाता है।

अध्यात्म-शास्त्र में सम्यक् आत्म-बोध को ही वस्तुतः सम्यक्ज्ञान कहा जाता है। और यह सम्यक् आत्म-बोध तभी सम्भव है, जबकि सम्यक्दर्शन की उपलब्धि हो चुकी हो। अतः अध्यात्म-शास्त्र में सम्यक्दर्शन का सहभावी ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान आत्मा का एक गुण है। उसकी दो पर्याय हैं—सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। सम्यक्ज्ञान उसकी शुद्ध पर्याय है और मिथ्याज्ञान उसकी अशुद्ध पर्याय है। सम्यक्दर्शन के सद्भाव और असद्भाव पर ही यह शुद्धता और अशुद्धता निर्भर है।

जैन-दर्शन की दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में गुण-गुणी सम्बन्ध है। गुणी आत्मा है और गुण ज्ञान है। आत्मा ज्ञाता है और संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब ज्ञेय हैं। ज्ञाता अपनी जिस शक्ति से ज्ञेय को जानता है, वस्तुतः वही ज्ञान है। जीव का लक्षण करते हुए कहा गया है, कि उपयोग, जीव का असाधारण लक्षण है। जिसमें उपयोग हो, वह जीव, और जिसमें उपयोग न हो, वह अजीव।

प्रश्न यह है कि उपयोग क्या है? और उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि जीव का बोधरूप व्यापार ही उपयोग है। आत्मा अपनी जिस शक्ति-विशेष से पदार्थों को जानता है, आत्मा की उस शक्ति को उपयोग कहा जाता है। शास्त्र में उपयोग के दो भेद हैं— साकार और निराकार। साकार का अर्थ है—ज्ञान और निराकार का अर्थ है—दर्शन। आत्मा का बोधरूप व्यापार जब वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके मुख्य रूप से वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करता है, तब उसे ज्ञान कहा जाता है। और जब आत्मा का बोधरूप व्यापार वस्तु के विशेष धर्म को गौण करके वस्तु के सामान्य धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करता है, तब उसे दर्शन कहा जाता है।

मैं आपके सामने ज्ञान के स्वरूप का वर्णन कर रहा था और आपको यह बता रहा था, कि जैन दर्शन में ज्ञान का क्या स्वरूप बतलाया है? जैन-दर्शन के अनुसार निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में किसी प्रकार का भेद नहीं है। मैं अपने आपको जानता हूँ, इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपने ज्ञान को भी जानता हूँ।

परन्तु प्रश्न है कि आत्मा अपने ज्ञान को कैसे जान सकता है ? ज्ञान स्वयं को स्वयं से जानता है, यह बात जल्दी समझ में नहीं आती। जैसे अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती है, वह पदार्थ को ही जलाती है, वैसे ही ज्ञान, ज्ञान को कैसे जान सकता है, वह दूसरे को ही जान सकता है। प्रस्तुत प्रश्न के समाधान में जैन-दर्शन का कथन है, कि ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही दूसरे पदार्थों को जानता है। जैसे दीपक स्वयं अपने को प्रकाशित करता हुआ ही परपदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आप को जानता हुआ ही परपदार्थों को जानता है। दीपक में यह गुण है कि वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है और अपनी शक्ति के अनुसार अपने समीपस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए प्रदेश में स्थित अन्य किसी दीपक की आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए भी ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। अतः ज्ञान दीपक के समान स्वयं और पर प्रकाशक माना गया है।

मैं आपसे ज्ञान के सम्बन्ध में विचार-विनिमय कर रहा था। आगम में अभेद दृष्टि से कहा गया है, कि जो ज्ञान है, वह आत्मा है, और जो आत्मा है वही ज्ञान है। जो आत्मा है, वह जानता है और जो जानता है, वह आत्मा है। भेद दृष्टि से कथन करते हुए ज्ञान को आत्मा का गुण कहा गया है। अतः भेदाभेद दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है। और ज्ञान आत्मा का गुण है, इसलिए वह उससे भिन्न भी है। फलितार्थ यह है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

प्रश्न होता है, कि ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ? जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय दोनों स्वतन्त्र हैं। मैंने आपसे कहा, कि ज्ञान आत्मा का गुण है और वह अपने ज्ञेय को जानता है। ज्ञेय तीन प्रकार का होता है—द्रव्य, गुण और पर्याय। जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है, जैन दर्शन के अनुसार यह कहा जा सकता है, कि न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञेय ज्ञान से। हमारा ज्ञान ज्ञेय को जानता है, ज्ञेय से उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञान आत्मा में अपने गुण स्वरूप से सदा अवस्थित रहता है और पर्याय रूप से प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है।

शास्त्र में ज्ञान के पाँच भेद माने गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। इन पाँच ज्ञानों के सम्बन्ध में मूलतः किसी प्रकार का विचार-भेद न होने पर भी इनके वर्गीकरण की पद्धति अवश्य ही भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है। आगम काल से आगे चलकर प्रमाण-शास्त्र में ज्ञान के भेद-प्रभेद का जो कथन किया गया है, वह वस्तुतः तर्क विकास का प्रतीक है। जब हम दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करते हैं, तब ज्ञात होता है, कि मूल में ज्ञान के जो पाँच भेद हैं, उन्हीं को दर्शन-शास्त्र एवं प्रमाण-शास्त्र में तर्कानुकूल बनाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इस प्रयत्न में मूल मान्यता में किसी भी प्रकार की गड़बड़ नहीं हुई है।

आगम-शास्त्र में ज्ञान के सीधे जो पाँच भेद किए गए हैं, उन्हीं को दर्शन-शास्त्र में दो भागों में विभाजित कर दिया है—प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण। प्रमाण के इन दो भेदों में ज्ञान के समस्त भेदों का समावेश कर दिया गया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण में माना गया है तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण में माना गया है। इसके बाद आगे चलकर ज्ञान-विभाजन की एक अन्य पद्धति भी स्वीकार की गई थी। इस पद्धति को विशुद्ध तर्क पद्धति कहा जाता है। इस तर्क-पद्धति के अनुसार सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है और उसके मूल में दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—मुख्य और सांख्यव्यवहारिक। मुख्य प्रत्यक्ष को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और सांख्यव्यवहारिक को इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा गया है। निश्चय ही इस विभाजन-पद्धति पर तर्क-शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है।

मैं आपसे कह रहा था कि मूल आगम में ज्ञान के सीधे पाँच भेद स्वीकार किए गये हैं, जिनका कथन मैं पहले कर चुका हूँ। पाँच ज्ञानों में पहला ज्ञान है—मतिज्ञान। मतिज्ञान का अर्थ है—इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञान। जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है, उसे यहाँ पर मतिज्ञान कहा गया है। शास्त्र में मतिज्ञान के पर्यावाची रूप में स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। मैंने अभी आप से कहा था, कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान होता है। इस प्रकार मतिज्ञान के दो भेद हैं—इन्द्रिय-जन्यज्ञान और मनोजन्यज्ञान। जिस ज्ञान की उत्पत्ति में मात्र इन्द्रिय निमित्त हो, वह इन्द्रियजन्यज्ञान है और जिस ज्ञान की उत्पत्ति में मात्र मन ही निमित्त हो, वह मनोजन्यज्ञान है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है, कि इन्द्रिय क्या है और मन क्या है? जब तक इन्द्रिय और मन के स्वरूप को नहीं समझा जाएगा, तब तक वस्तुतः मतिज्ञान को समझना आसान नहीं है। आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान-शक्ति पर कर्म का आवरण होने से सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः उस स्थिति में ज्ञान के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है। ज्ञान का वह माध्यम इन्द्रिय और मन हो सकता है। इन्द्र का अर्थ—आत्मा है, और इन्द्र का अनुमान कराने वाले चिन्ह का नाम है—इन्द्रिय। शास्त्र में इन्द्रियों के पाँच भेद बताए गए हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पाँच इन्द्रियों के शास्त्रों में दो भेद किए गये हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल की रचना का आकार-विशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का ज्ञानात्मक परिणाम भावेन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्रिय के भेद और प्रभेद बहुत से हैं, किन्तु मैं आपके समक्ष उनमें से मुख्य-मुख्य भेदों का ही कथन कर रहा हूँ। पाँच इन्द्रियों के विषय भी पाँच ही हैं। स्पर्शन का विषय स्पर्श, रसन का विषय रस, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय रूप और श्रोत्र का विषय शब्द।

अब प्रश्न यह होता है, कि मन क्या है? मन के विषय में बहुत कुछ गम्भीर विचार किया गया है, किन्तु मैं यहाँ पर आपके समक्ष संक्षेप में ही कथन करूँगा। मैं अभी आपसे

कह चुका हूँ कि उक्त पाँचों इन्द्रियों का विषय भिन्न-भिन्न है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण नहीं कर सकती, उदाहरण के लिए रूप को चक्षु ही ग्रहण कर सकती है, श्रोत्र नहीं और शब्द को श्रोत्र ही ग्रहण कर सकता है, चक्षु नहीं। प्रत्येक की अपनी-अपनी विषयगत सीमा और मर्यादा है। परन्तु मन के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। मन एक सूक्ष्म इन्द्रिय है, जो सभी इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है। इसी आधार पर मन को सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहा जाता है। मन को कहीं-कहीं पर अनिन्द्रिय भी कहा गया है। मन को अनिन्द्रिय कहने का अभिप्राय यही है, कि उसका कोई बाह्य आकार न होने से वह अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः वह इन्द्रिय न होते हुए भी इन्द्रिय सदृश है।

मन के दो भेद किए गए हैं—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन पौद्गलिक है। भावमन उपयोग रूप है। इस प्रकार शास्त्रों में मन के स्वरूप का जो प्रतिपादन किया गया है, वह यह बताया गया है कि भावमन संसार के प्रत्येक प्राणी को होता है, किन्तु द्रव्यमन किसी को होता है और किसी को नहीं भी होता है। जिस संसारी जीव में भावमन के साथ द्रव्यमन भी हो, वह संज्ञी कहलाता है और जिसके भावमन के साथ द्रव्यमन न हो तो वह असंज्ञी कहा जाता है। मन का कार्य है—चिन्तन करना। वह स्वतन्त्र चिन्तन के अतिरिक्त इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी चिन्तन करता है। मन में एक ऐसी शक्ति है, जिससे वह इन्द्रियों से अगृहीत अर्थ का चिन्तन भी कर सकता है। इसी को मनोजन्यज्ञान कहा गया है।

कल्पना कीजिए, आपने अपने कान से घट शब्द सुना, तो आप को घट शब्द मात्र का ही ज्ञान होता है, किन्तु घट शब्द का अर्थ क्या है, यह परिज्ञान नहीं होने पाता। यह मन का विषय है। मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी। संसार में जितने भी विषय हैं, वे प्रत्यक्ष हों अथवा परोक्ष हों, उन सब का ज्ञान मन से हो सकता है। इसीलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा जाता है।

किसी भी पदार्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित तो रहती ही है, किन्तु अन्य भी प्रकाश आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जो मतिज्ञान में निमित्त होते हैं। किन्तु यह प्रकाश आदि ज्ञानोत्पत्ति के अनिवार्य और अव्यवहित कारण नहीं हैं। आकाश और काल आदि की भाँति व्यवहित कारण हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि मतिज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता रहती है। शब्द के ज्ञान के लिए श्रोत्र की, रूपज्ञान के लिए चक्षु की, गन्धज्ञान के लिए घ्राण की, रसज्ञान के लिए रसन की और स्पर्शज्ञान के लिए स्पर्शन इन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। और मन, वह तो इन्द्रियों द्वारा गृहीत और अगृहीत सभी विषयों में चिन्तन और मनन करता है।

मतिज्ञान के शास्त्रों में मुख्य रूप से चार भेद किए गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। यद्यपि मतिज्ञान के अन्य भी बहुत से भेद-प्रभेद होते हैं, किन्तु मुख्य रूप में मतिज्ञान के इतने ही भेद हैं। मतिज्ञान के उक्त चार भेदों में सबसे पहला भेद है, अवग्रह। अवग्रह के पर्यायवाची रूप में ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग भी

किया जाता है। अवग्रह का क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—इन्द्रिय और पदार्थ का योग्यदेशावस्थितरूप सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित जो सामान्य रूप ज्ञान है, वह अवग्रह है। इस ज्ञान में यह निश्चय नहीं हो पाता कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ। केवल इतना ही परिज्ञान होता है, कि कुछ है। उक्त ज्ञान में सत्तामात्ररूप सामान्यग्राही दर्शन से अधिक विकसित जो बोध होता है, उसे हम पदार्थ का प्रारंभिक अविशिष्ट विशेषरूप सामान्य बोध कह सकते हैं।

अवग्रह के दो भेद होते हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। पदार्थ और इन्द्रिय का संयोग व्यञ्जनावग्रह है। व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह होता है। व्यञ्जनावग्रह को अव्यक्त ज्ञान कहा गया है, यही ज्ञान आगे पुष्ट होकर अर्थावग्रह की कोटि में पहुँच कर कुछ-कुछ व्यक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, कुम्भकार के आवा में से एक ताजा सकोरा निकाल कर यदि कोई उसमें एक-एक बूँद पानी डालता जाए तो क्या स्थिति होती है? प्रथम जलबिन्दु गरम सकोरे में पड़ते ही सूख जाता है, इसी प्रकार दूसरा एवं तीसरा आदि जल-बिन्दु भी सूखते चले जाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे निरन्तर जल-बिन्दु डालते रहने का परिणाम यह होता है कि फिर उस सकोरे में जल को शोषण करने की शक्ति नहीं रहती और एक-एक बूँद संचित होकर अंततः वह सकोरा जल से भर जाता है। प्रथम बिन्दु से लेकर अन्तिम बिन्दु तक जल उस सकोरे में विद्यमान है, किन्तु प्रथम जल-बिन्दु उसमें अव्यक्त रूप में रहने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि व्यक्त जल-बिन्दु दृष्टिगोचर हो जाता है। जैसे-जैसे जल की शक्ति बढ़ती गई, वह अभिव्यक्त होता गया। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि अव्यक्त स्थिति में जो जल-बिन्दु हैं, उनके समान व्यञ्जनावग्रह का अव्यक्तज्ञान है, और जो जल-बिन्दु व्यक्त हैं उनके समान अर्थावग्रह का व्यक्तज्ञान है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह भी होता है, कि क्या व्यञ्जनावग्रह समग्र इन्द्रियों से हो सकता है, अथवा नहीं? इसके समाधान में कहा गया है, कि चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, शेष सभी इन्द्रियों से व्यञ्जनावग्रह होता है। चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह इसलिए नहीं होता है, क्योंकि ये दोनों अप्राप्यकारी इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। प्राप्यकारी उसे कहा जाता है, जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध हो। और जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता उसे अप्राप्यकारी कहा जाता है। व्यञ्जनावग्रह के लिए पदार्थ और इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित है। परन्तु चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं, अतः इनके साथ पदार्थ का संयोग नहीं होता। इसी कारण चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है। अर्थावग्रह संयोगरूप नहीं होता, वह व्यक्त सामान्य ज्ञान रूप ही होता है। इसलिए चक्षु और मन से सीधा अर्थावग्रह होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और छठे मन से होता है। अर्थावग्रह के सम्बन्ध में कुछ बातें और हैं किन्तु वे तर्क-शास्त्र से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। अतः उनका वर्णन यहाँ पर करना उचित नहीं है और वह अधिक गम्भीर भी है।

मतिज्ञान का दूसरा भेद है, ईहा। अवग्रह के बाद ज्ञान ईहा में परिणत हो जाता है। ईहा क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि अवग्रह के द्वारा अवगृहीत पदार्थ के विषय में विशेष रूप से जानने की ज्ञानपरिणति को ईहा कहा जाता है। ईहा शब्द के पर्यायवाची रूप में ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।

कल्पना कीजिए, कोई व्यक्ति आपका नाम लेकर आप को बुला रहा है, उसके शब्द आपके कानों में पड़ते हैं। अवग्रह में आपको इतना ज्ञान हो जाता है कि कहीं से शब्द आ रहा है। शब्द सुनकर व्यक्ति विचार करता है, कि यह शब्द किसका है? कौन बोल रहा है? बोलने वाला स्त्री है अथवा पुरुष? फिर सुनने वाला उस शब्द के स्वर के सम्बन्ध में विचार करता है कि यह शब्द मधुर एवं कोमल है, अतः किसी स्त्री का होना चाहिए, क्योंकि पुरुष का स्वर कठोर एवं रूक्ष होता है। यहाँ तक ईहा ज्ञान की सीमा है।

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है, कि यह तो एक प्रकार का संशय है, संशय में और ईहा में भेद क्या रहा? उक्त प्रश्न के समाधान में यह कहा जाता है कि ईहा संशय नहीं है, क्योंकि संशय में दोनों पक्ष बराबर होते हैं, अतः संशय उभयकोटिस्पर्शी होता है। संशय में ज्ञान का किसी एक ओर झुकाव नहीं होता। यह स्त्री का स्वर है अथवा पुरुष का स्वर है, यह निर्णय नहीं होने पाता। संशय में न पुरुष के स्वर का निर्णय होता है, न स्त्री के ही स्वर का निर्णय होने पाता है। संशय अवस्था में ज्ञान त्रिशंकु के समान बीच में हो लटकता रहता है। ईहा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईहा में ज्ञान एक ओर झुक जाता है। किस ओर झुकता है? इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि अवाय में जिस वस्तु का निश्चय होने वाला है, ईहा में उस ओर ही ज्ञान का झुकाव हो जाता है। संशय ज्ञान उभयकोटिस्पर्शी होता है, जबकि ईहा ज्ञान एककोटिस्पर्शी ही होता है। यह सत्य है, कि ईहा में पूर्ण निर्णय एवं पूर्ण निश्चय नहीं होने पाता है, फिर भी ईहा में ज्ञान का झुकाव निर्णय की ओर अवश्य हो जाता है। संशय और ईहा में यही सबसे बड़ा अन्तर है।

मतिज्ञान का तीसरा भेद है—अवाय। अवाय का अर्थ है निश्चय। ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निश्चित रूप में अन्तिम निर्णय करना ही अवाय है। ईहा में हमारा ज्ञान यहीं तक पहुँचा था कि यह शब्द किसी स्त्री का होना चाहिए, क्योंकि इसमें मृदुता और कोमलता है; परन्तु अवाय में पहुँचकर हमें यह निश्चय हो जाता है, कि यह शब्द स्त्री का ही है। अवाय के पर्यायवाची रूप में आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, अपाय और विज्ञान आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अवाय-ज्ञान एक प्रकार का निश्चय ज्ञान है। इसमें पदार्थ का निश्चय हो जाता है कि वह क्या है।

मतिज्ञान का चौथा भेद है धारणा। धारणा का अर्थ है—किसी ज्ञान का बहुत काल के लिए स्थायी होना। अवाय के बाद जो धारणा होती है, उसमें ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है, कि वह कालान्तर में स्मृति का कारण बनता है। इसी आधार पर दर्शन-शास्त्र में धारणा को स्मृति का हेतु कहा गया है। धारणा संख्येय या असंख्येय काल तक रह सकती



है। धारणा के पर्यायवाची रूप में प्रतिपत्ति, अवधारण, अवस्थान और अवबोध आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। धारणा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ज्ञान की अविच्छ्युति को धारणा कहते हैं। जो ज्ञान शीघ्र नष्ट न होकर चिरस्थायी रह सके और स्मृति का हेतु बन सके वही ज्ञान धारणा है।

धारणा के तीन भेद हैं—अविच्छ्युति, वासना और अनुस्मरण। अविच्छ्युति का अर्थ है—पदार्थ के ज्ञान का विनाश न होना। वासना का अर्थ है—संस्कार का निर्माण होना और अनुस्मरण का अर्थ है, भविष्य में प्रसंग मिलने पर उन संस्कारों का स्मृति रूप में उद्बुद्ध होना।

यहाँ पर मैंने संक्षेप में मतिज्ञान के चार मुख्य भेदों के स्वरूप को बताने का प्रयत्न किया है। शास्त्र में और बाद के दर्शन ग्रंथों में मतिज्ञान के अन्य भी बहुत से भेदों का वर्णन किया गया है। मेरे विचार में ज्ञान के भेद प्रभेदों में न उलझ कर उसके मर्म एवं रहस्य को ही समझने का प्रयत्न होना चाहिए। आपको यह समझना चाहिए, कि मतिज्ञान क्या है और उसके क्या कारण हैं तथा जीवन में उस मतिज्ञान का उपयोग और प्रयोग कैसे किया जा सकता है ?

पाँच ज्ञानों में दूसरा ज्ञान है—श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान क्या है ? यह अतीव विचारणीय प्रश्न है। मतिज्ञानोत्तर जो चिन्तन-मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। इसका यह अर्थ है कि इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से जो ज्ञानधारा प्रवाहित होती है, उसका पूर्वरूप मतिज्ञान है, और उसी का मन के द्वारा मनन होने पर जो अधिक स्पष्ट उत्तररूप होता है, वह श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण है।

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान, जो श्रुत से अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।

श्रुतज्ञान में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा एक विशेषता है। चार ज्ञान मूक हैं, जबकि श्रुतज्ञान मुखर है। चार ज्ञानों से वस्तु स्वरूप का परिबोध तो हो सकता है, किन्तु वस्तु स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप के कथन की शक्ति श्रुतज्ञान में ही होती है। क्योंकि श्रुतज्ञान शब्दप्रधान होता है।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। श्रुत का ज्ञानात्मक रूप भावश्रुत है और शब्दात्मकरूप द्रव्यश्रुत है। श्रुतज्ञान के अन्य प्रकार से भी भेद किए गए हैं। उसमें मुख्य भेद दो हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। आवश्यक आदि के रूप में अंगबाह्य अनेक प्रकार का होता है और अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि द्वादश भेद होते हैं। श्रुतज्ञान के अन्य भेद किए जाते हैं, किन्तु यहाँ पर उसके मूल भेदों का ही कथन कर दिया गया है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही क्यों होता है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि श्रुतज्ञान के लिए शब्द श्रवण आवश्यक है, क्योंकि शास्त्र

वचनात्मक होता है। शब्द का श्रवण मतिज्ञान है, क्योंकि वह श्रोत्र का विषय है। जब शब्द सुन लिया जाता है, तभी उसके अर्थ का चिन्तन किया जाता है। शब्दश्रवण रूप जो ज्ञान है, वह मतिज्ञान है, उसके बाद उत्पन्न होने वाला विकसित ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान होगा, तभी श्रुतज्ञान होगा।

यहाँ पर एक बात और समझने योग्य है कि श्रुतज्ञान का अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम ही है। मतिज्ञान तो उसका बहिरंग कारण है। इसी कारण कहा जाता है कि श्रुतज्ञान से पूर्व मतिज्ञान होता है अर्थात् मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान हो सकता है।

यहाँ पर मैं आप लोगों को एक बात और बतला देना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ पर अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट की क्या व्याख्या की गई है। अंगप्रविष्ट उसे कहते हैं, जो साक्षात् तीर्थंकर द्वारा भाषित होता है और गणधरों द्वारा जिसे सूत्रबद्ध किया जाता है। परन्तु आगे चलकर बल और बुद्धि की मन्दता के कारण समर्थ आचार्य अथवा श्रुतधर आचार्य अंगप्रविष्ट आगमों का आधार लेकर शिष्यहित के लिए एवं ज्ञान प्रसार के लिए जो ग्रन्थ-रचना करते हैं, उन्हें अंगबाह्य ग्रन्थ कहते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें ऐसी हैं, जिनका जानना अनिवार्य है। मैं आपको संक्षेप में उन बातों को यहाँ बतलाने का प्रयत्न करूँगा। एक बात तो यह है, कि प्रत्येक संसारी जीव में कम से कम दो ज्ञान तो अवश्य होते ही हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

प्रश्न यह होता है, कि यह ज्ञान कब तक रहते हैं? केवलज्ञान होने के पूर्व तक ये रहते हैं अथवा केवलज्ञान होने के बाद भी यह रहते हैं? इस विषय में अनेक प्रकार के मतभेद हैं, जिनके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं है। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता रहती है। जिस प्रकार दिवाकर के प्रचण्ड प्रकाश के समक्ष ग्रह और नक्षत्रों का प्रकाश नष्ट नहीं होता, बल्कि तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान के महाप्रकाश के समक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अल्प प्रकाश नष्ट नहीं होता है, बल्कि तिरोहित हो जाता है।

दूसरे आचार्यों का अभिमत यह है, कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। जब समग्र ज्ञानावरण का क्षय हो जाता है, तब क्षायिकज्ञान प्रकट होता है, जिसे केवलज्ञान कहते हैं, उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते। अतः केवलज्ञान हो जाने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता नहीं रहती, वे मिट जाते हैं, उस समय अकेला केवलज्ञान ही रहता है। यह पक्ष प्रथम पक्ष की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है।

पाँच ज्ञानों में तीसरा ज्ञान है—अवधिज्ञान। अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों का होता है। अवधिज्ञान क्या है? इसके सम्बन्ध में

कहा गया है, कि अवधि का अर्थ है—सीमा। जिस ज्ञान की सीमा होती है, उसे अवधिज्ञान कहा जाता है। अवधिज्ञान की सीमा क्या है? रूपी पदार्थों को जानना।

अवधिज्ञान के दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारक को होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्च को होता है। जो अवधिज्ञान बिना किसी साधना के मात्र जन्म के साथ ही प्रकट होता है, उसे भवप्रत्यय कहते हैं। जो अवधिज्ञान किसी साधना-विशेष से प्रकट होता है, उसे गुणप्रत्यय कहा जाता है। अवधिज्ञान के अन्य प्रकार से भी भेद किए गए हैं, किन्तु उनका यहाँ पर विशेष वर्णन करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ तो केवल अवधिज्ञान के स्वरूप और उसके मुख्य भेदों का ही कथन करना अभीष्ट है।

पाँच ज्ञानों में चौथा ज्ञान है—मनःपर्यायज्ञान। यह ज्ञान मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य किसी गति में नहीं होता है। मनुष्य में भी संयत मनुष्य को ही होता है, असंयत मनुष्य को नहीं। मनःपर्याय ज्ञान का अर्थ है—मनुष्यों के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान। मन एक प्रकार का पौद्गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय-विशेष का विचार करता है, तब उसके मन का तदनुसार पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। मनःपर्याय ज्ञानी मन की इन पर्यायों का साक्षात्कार करता है। उस पर से वह यह जान सकता है कि अमुक व्यक्ति किस समय क्या बात सोचता रहा है। अतः मनःपर्याय ज्ञान का अर्थ है—मन के परिणामन का साक्षात् प्रत्यक्ष करके मनुष्य के चिन्तित अर्थ को जान लेना।

मनःपर्यायज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान विशुद्धतर होता है। क्योंकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा मन के अति सूक्ष्म परिणामों को भी जान सकता है। दूसरी बात यह है कि ऋजुमति प्रतिपाती होता है और विपुलमति अप्रतिपाती होता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि ये दोनों ज्ञान सीधे आत्मा से ही होते हैं। इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान दोनों ही विकल प्रत्यक्ष हैं, जबकि केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है। अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों का ही प्रत्यक्ष कर सकता है और मनःपर्यायज्ञान रूपी पदार्थों के अनन्तवें भाग मन की पर्यायों का ही प्रत्यक्ष कर सकता है। इसलिए ये दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं।

पाँच ज्ञानों में पाँचवाँ ज्ञान है—केवलज्ञान। यह ज्ञान विशुद्धतम है। केवलज्ञान को अद्वितीय और परिपूर्ण ज्ञान भी कहा जाता है। आगम की भाषा में इसे क्षायिक ज्ञान कहा जाता है। आत्मा की ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकास अथवा आविर्भाव केवलज्ञान है। इसके प्रकट होते ही, फिर शेष ज्ञान नहीं रहते। केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान है, अतः उसके साथ मति आदि अपूर्ण ज्ञान नहीं रह सकते।

जैन दर्शन के अनुसार केवलज्ञान आत्मा की ज्ञान-शक्ति का चरमविकास है। केवल से बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं होता है। इस ज्ञान में अतीत, अनागत और वर्तमान के

अनन्त पदार्थ और प्रत्येक पदार्थ के अनन्त गुण और पर्याय केवलज्ञान के दर्पण में प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। केवलज्ञान देश और काल की सीमा-बन्धन से मुक्त होकर रूपी एवं अरूपी समग्र पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है। अतः उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं।

मैं आपसे पहले कह चुका हूँ, कि उपयोग के दो भेद हैं—साकार और अनाकार। साकार, ज्ञान को कहते हैं और अनाकार, दर्शन को। इसे एक-दूसरे रूप में भी कहा जाता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जो उपयोग वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है, वह सविकल्पक है और जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है, वह निर्विकल्पक है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है, कि जैन दर्शन को छोड़कर अन्य किसी दर्शन में तो इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं है, फिर जैन दर्शन की इस मान्यता का आधार क्या है? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि जैन दर्शन में ज्ञान और दर्शन की मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। मूल आगम में हमें दो प्रयोग मिलते हैं—‘जाणइ’ और ‘पासइ’। इनका अर्थ है—जानना और देखना। जानना, ज्ञान है और देखना, दर्शन है। दूसरा आधार यह है, कि जैन दर्शन में कर्म के आठ भेद स्वीकार किए गये हैं। उन आठ भेदों में पहला है—ज्ञानावरण और दूसरा है दर्शनावरण। ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरण और दर्शन को आच्छादित करने वाला कर्म दर्शनावरण कहलाता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि जैन-दर्शन में ज्ञान और दर्शन की मान्यता बहुत ही प्राचीन है। यह सिद्धान्त तर्क से भी सिद्ध होता है। सर्वप्रथम वस्तु के अस्तित्व का ही बोध होता है, तदनन्तर वस्तु की अनेकानेक विशेषताओं का। इससे भी स्पष्ट है कि दर्शन और ज्ञान दो उपयोग होते हैं।

एक प्रश्न यह उठाया जाता है, कि दर्शन और ज्ञान में पूर्व कौन होता है? इसके समाधान में कहा गया है, कि जहाँ तक छद्मस्थ का प्रश्न है, सभी आचार्य एकमत हैं कि दर्शन और ज्ञान युगपद् न होकर क्रमशः होते हैं। प्रथम दर्शन होता है और पश्चात् ज्ञान होता है। केवली के प्रश्न को लेकर आचार्यों में मतभेद अवश्य है। इस विषय में तीन प्रकार के मत हैं—एक मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं। दूसरे मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान युगपद् होते हैं। तीसरे मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान भिन्न न होकर अभिन्न हैं।

सबसे पहले हमें यह विचार करना चाहिए कि इन तीन मतों का मूल आधार क्या है? आचार्यों के मतभेद का आधार कौनसा ग्रन्थ है अथवा कौन-सी परम्परा है? प्राचीनता की दृष्टि से विचार करने पर सबसे पहले हमारी दृष्टि आगम की ओर जाती है। प्रज्ञापना, आवश्यकनिर्युक्ति एवं विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है, कि केवली के भी दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम इस विषय में एकमत हैं। आगम केवली के दर्शन और ज्ञान को युगपद् नहीं मानते।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपद् होते हैं। इस विषय में दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्य एकमत हैं। युगपद्वादी का कथन है, कि जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और आतप एक साथ रहते हैं, उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि केवली के दर्शन और ज्ञान को लेकर श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा क्रमवादी है और दिगम्बर परम्परा युगपद्वादी है। परन्तु यह मतभेद केवली के दर्शन और ज्ञान को लेकर ही है, छद्मस्थ के दर्शन और ज्ञान के प्रश्न पर श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा में न किसी प्रकार का विवाद है और न किसी प्रकार का मतभेद ही है। दोनों परम्पराएँ छद्मस्थ व्यक्ति में दर्शन और ज्ञान को क्रमशः ही स्वीकार करती हैं, इस दृष्टि से इस विषय में दोनों परम्पराएँ क्रमवादी हैं।

अब प्रश्न रहता है तीसरी परम्परा का, जिसके आविष्कारक चतुर्थ शताब्दी के महान् दार्शनिक, प्रखर तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर हैं। आचार्य सिद्धसेन का कथन है, कि मतिज्ञान से लेकर मनःपर्यायज्ञान तक दर्शन और ज्ञान में भेद सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन का भेद सिद्ध करना कथमपि सम्भव नहीं है। दर्शनावरण और ज्ञानावरण का जब हम युगपद् क्षय मानते हैं, तब उस क्षय से होने वाले उपयोग में “यह पहले होता है और यह बाद में होता है अथवा युगपद् होते हैं,” इस प्रकार का कथन करना, न न्यायसंगत है और न तर्कसंगत है। पूर्ण उपयोग में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहता है। अतः केवली के दर्शन में तथा ज्ञान में किसी भी क्रम को और युगपद् को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों अलग-अलग हैं ही नहीं, दोनों एक ही हैं।

इस प्रकार जैसा कि मैंने आपको कहा था। दर्शन और ज्ञान को लेकर जैनाचार्यों में कुछ मतभेद है, पर इस मतभेद से मूल वस्तुस्थिति पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। वस्तुस्थिति को भेदगामी दृष्टि से देखने पर भेद की प्रतीति होती है और अभेदगामी दृष्टि से देखने पर अभेद की प्रतीति होती है। अनेकान्त दृष्टि में भेद और अभेद दोनों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

जैन दर्शन में ज्ञानवाद की चर्चा बहुत पुरानी और बहुविध है। अङ्ग, उपाङ्ग और मूल-सूत्रों में, यत्र-तत्र जो ज्ञानवाद की चर्चा उपलब्ध होती है, वह अनेक पद्धतियों से प्रतिपादित है। स्थानांग सूत्र में, राजप्रश्नीय सूत्र में और उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान के सीधे पाँच भेद किए गए हैं। भगवती सूत्र में और अनुयोगद्वार सूत्र में ज्ञान का चार प्रमाण के रूप में तर्क पद्धति पर वर्णन भी उपलब्ध है। नन्दी सूत्र में पाँच ज्ञान का वर्णन आगम और तर्कशैली से भिन्न दर्शन शैली पर किया गया है। इस प्रकार आगम साहित्य में ज्ञानवाद की चर्चा बहुविध और अनेकविध पद्धति पर आधारित है। ज्ञानवाद के वर्णन की उक्त

पद्धतियों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—आगमिक शैली, दार्शनिक शैली और तार्किक अर्थात् न्याय शैली।

आगमिक शैली से पाँच ज्ञान का वर्णन—अंग, उपांग और मूलसूत्रों में उपलब्ध है। इसमें ज्ञान के सीधे पाँच भेद करके उनके उपभेदों का वर्णन कर दिया गया है। कर्म-ग्रन्थों में भी ज्ञानवाद का वर्णन आगमिक शैली के आधार पर ही किया गया है। दार्शनिक शैली का प्रयोग नन्दी-सूत्र में उपलब्ध है। इसमें ज्ञान का सांगोपांग वर्णन किया गया है। जितने अधिक विस्तार के साथ में और जितनी सुन्दर व्यवस्था के साथ में पाँच ज्ञान का वर्णन नन्दी-सूत्र में किया गया है, उतने विस्तार के साथ और उतनी सुन्दर व्यवस्था के साथ अन्य किसी आगम में नहीं किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में जो ज्ञान का वर्णन है, वह दार्शनिक शैली का न होकर आगमिक शैली का है। आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यकभाष्य में पाँच ज्ञान का सांगोपांग और अति विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसकी शैली विशुद्ध दार्शनिक शैली है। यह एक ऐसा महासागर है, जिसमें सब कुछ समाहित हो जाता है। विशेषावश्यकभाष्य आगम की पृष्ठ-भूमि पर दार्शनिक क्षेत्र की एक महान देन है। आगम का ज्ञानवाद इसमें पीन और परिपुष्ट हो गया है। पाँच ज्ञान के सम्बन्ध में विशेषावश्यकभाष्य में जो कुछ कहा गया है, वही अन्यत्र उपलब्ध होता है। और जो कुछ इसमें नहीं कहा गया, वह अन्यत्र भी नहीं कहा गया है। आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण के उत्तर-भावी समग्र दार्शनिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में ज्ञानवाद के प्रतिपादन में और ज्ञानवाद की व्याख्या करने में विशेषावश्यकभाष्य को ही आधार बनाया है। इसमें ज्ञानवाद का प्रतिपादन इतने विशाल और विराट रूप में हुआ है कि इसे पढ़कर ज्ञानवाद के सम्बन्ध में अन्य किसी ग्रन्थ के पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती। आचार्य ने अपने युग तक की परम्परा के चिन्तन का इसमें आकलन और संकलन कर दिया है।

विशेषावश्यकभाष्य के बाद पाँच ज्ञान का सांगोपांग वर्णन अथवा प्रतिपादन उपाध्याय यशोविजयकृत 'ज्ञान-बिन्दु' और 'जैन-तर्क-भाषा' में उपलब्ध होता है। जैन दार्शनिक साहित्य में उक्त दोनों कृतियाँ अद्भुत और बेजोड़ हैं। 'ज्ञान-बिन्दु' में पाँच ज्ञान का वर्णन दर्शन की पृष्ठ-भूमि पर तार्किक शैली से किया गया है। परन्तु 'जैन-तर्क-भाषा' में ज्ञान का वर्णन विशुद्ध तार्किक शैली पर ही किया गया है। उपाध्याय यशोविजय अपने युग के एक प्रौढ़ दार्शनिक और महान् तार्किक थे। इन्होंने अपने ग्रंथों की रचना नव्य न्याय की शैली पर की है।

दार्शनिक शैली का एक दूसरा रूप, हमें पाँच ज्ञान के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' में भी मिलता है। परन्तु यहाँ पर ज्ञानवाद का वर्णन उतने विस्तार से और क्रमबद्ध नहीं है, जैसा कि 'नन्दी-सूत्र' में एवं विशेषावश्यकभाष्य में, 'ज्ञानबिन्दु' में और 'जैन-तर्क-भाषा' में उपलब्ध होता है।



मैं आपसे इतनी बात अवश्य कहूँगा, कि ज्ञानवाद के सम्बन्ध में जैन आचार्यों ने अपने-अपने युग में परिष्कार अवश्य किया है, किन्तु उसका मूल आधार आगम ही रहा है। आगम को आधार बनाकर ही ज्ञान का कहीं पर संक्षेप में तो कहीं पर विस्तार में वर्णन किया गया है। ज्ञान के सम्बन्ध में मैंने यहाँ पर आपको जो कुछ कहा है, उसे आप परिपूर्ण न समझ लें। मैंने तो केवल उसका परिचय मात्र करा दिया है। इस सम्बन्ध में जो सज्जन विशेष जिज्ञासा रखते हैं, उन्हें चाहिए कि वे मूल आगम का और उत्तरकाल के ग्रंथों का स्वाध्याय करके अपने ज्ञान को अभिवृद्ध और विकसित करें।

यहाँ पर मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि जैन दर्शन की मूल दृष्टि क्या है? जब तक आप जैन-दर्शन की मूल दृष्टि को नहीं पकड़ सकेंगे, तब तक आप अधिगत ज्ञान से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकेंगे। जैन-दर्शन के अनुसार विश्व के समग्र पदार्थ दो विभागों में विभक्त हैं—जीव-राशि और अजीव-राशि। उक्त दो विभागों में जड़ और चेतन सभी तत्वों का समावेश हो जाता है। यह विश्व क्या है? जीव और अजीव का समूह। जीव को आत्मा और अजीव को अनात्मा भी कह सकते हैं।

दर्शन-शास्त्र की परिभाषा में जीव तथा अजीव को प्रमेय एवं ज्ञेय भी कह सकते हैं। प्रमा का विषय प्रमेय और ज्ञान का विषय ज्ञेय। प्रमाता केवल जीव ही है, अजीव नहीं। जीव ही ज्ञाता द्रष्टा है। वह जीव को भी जानता है और अजीव को भी जानता है। प्रमा और ज्ञान दोनों का एक ही अर्थ है। प्रमा जिसमें हो, वह प्रमाता और ज्ञान जिसमें हो, वह ज्ञाता। प्रमाता जिससे प्रमेय को जानता है—वह प्रमाण है और ज्ञाता जिससे ज्ञेय को जानता है—वह ज्ञान है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—यह त्रिपुटी है तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह एक दूसरी त्रिपुटी है। निश्चय नय से विचार करने पर प्रमाता और प्रमाण में अथवा ज्ञाता और ज्ञान में किसी प्रकार का भेद नहीं है। व्यवहार नय से विचार करने पर दोनों में भेद प्रतीत होता है।

भारत की दार्शनिक परम्परा को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—द्वैतवादी और अद्वैतवादी। जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक द्वैतवादी दर्शन हैं। चार्वाक, विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्ती अद्वैतवादी दर्शन हैं। विश्व में दो तत्वों की सत्ता को स्वीकार करने वाले द्वैतवादी हैं और एक तत्व की सत्ता को मानने वाले अद्वैतवादी हैं। जैन परम्परा में भी कुछ आचार्यों ने अभेद दृष्टि के आधार पर सत्त्वरूप अद्वैत-भाव के स्थापना की चेष्टा की थी, पर उसका अधिक प्रसार नहीं हो सका। क्योंकि अद्वैतवाद का जैन-दर्शन की मूल भावना से मौलिक सामञ्जस्य नहीं बैठता।

अतः जैन दर्शन मूल रूप में द्वैतवादी दर्शन है। जैन दर्शन-अभिमत मूल में दो तत्व हैं—जीव और अजीव। किन्तु उन दोनों की संयोगावस्था और वियोगावस्था को लेकर तत्व के सात भेद हो जाते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव ज्ञेय हैं, आस्रव और बन्ध हेय हैं तथा संवर और निर्जरा उपादेय हैं। मोक्ष तो

जीव की अत्यन्त विशुद्ध स्थिति का ही नाम है। पुद्गल का जीव के साथ जो संयोग है, वही संसार है। जीव और पुद्गल का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक जो वियोग है, वही मोक्ष है। बन्ध और आम्रव संसार के हेतु हैं तथा संवर और निर्जरा मोक्ष के कारण हैं। इस प्रकार जैन दर्शन प्रमेय के सात भेद स्वीकार करता है। इन सात प्रमेयों को जानने वाला प्रमाता कहलाता है और प्रमाता जिससे इन प्रमेयों को जानता है, उसे प्रमाण कहा जाता है। आगम की भाषा में इसी को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कहा जाता है। संक्षेप में ज्ञान का वर्णन यहाँ इतना ही अभीष्ट है।



## २. प्रमाण-वाद

मैं आज आप से प्रमाण के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा हूँ। प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती। न्याय-शास्त्र का एक यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। प्रमाण से ही प्रमेय का यथार्थ परिज्ञान होता है। अतः भारतीय दर्शनशास्त्र में प्रमाण पर बहुत कुछ लिखा गया है। जैन, वैदिक और बौद्ध-समस्त दार्शनिकों ने प्रमाणवाद पर बड़ा बल लगाया है। भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा में प्रमाण पर गंभीर चिन्तन और अनुशीलन किया गया है। न्याय दर्शन का तो मुख्य विषय ही प्रमाण है। वैशेषिक दर्शन में प्रमेय की बहुलता होने पर भी उसमें प्रमाणवाद को स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन में भी प्रमाण पर पर्याप्त विवेचन किया गया है, किन्तु वैशेषिक की भाँति इसमें तत्व-चर्चा अधिक है। योग तो क्रियात्मक प्रयोग पर ही खड़ा है, फिर भी उसमें प्रमाण-चर्चा की गई है। मीमांसा और वेदान्त में भी प्रमाणवाद पर बहुत बल दिया गया है। भूतवादी चार्वाक को भी प्रमाण स्वीकार करना पड़ा। बौद्ध दर्शन में तो प्रमाणवाद ने बहुत ही गम्भीर रूप लिया है। बौद्ध दार्शनिकों के सूक्ष्म और पौने तर्क सुप्रसिद्ध हैं। जैन दर्शन में तो प्रमाणवाद पर संख्याबद्ध ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। प्रमाण विषय पर भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं में आज तक जो कुछ भी लिखा गया है, उसमें जैन दार्शनिकों का महान् योग-दान रहा है। प्राचीन न्याय की परम्परा से लेकर नव्य युग के नव्यन्याय तक की परम्परा जैन दर्शन के प्रमाणवाद में सुरक्षित है। प्रमाण की मीमांसा में और प्रमाण की विचारणा में जैन दार्शनिक कभी पश्चात्-पद नहीं रहे हैं।

भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा ने अपने-अपने अभिमत प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण को स्वीकार किया है, और अपने-अपने ढंग से उसकी व्याख्या की है। प्रमाण के स्वरूप में विभिन्नता होने पर भी प्रमाण की उपयोगिता के सम्बन्ध में सब एकमत हैं। भले ही प्रमाणों की संख्या किसी ने कम मानी हो और किसी ने अधिक मानी हो, पर उसकी आवश्यकता का अनुभव सबने किया है।

प्रमेय की सिद्धि के लिए समस्त दर्शन प्रमाण को स्वीकार करते हैं। परन्तु जैन दर्शन प्रमाण के अतिरिक्त नय को भी वस्तु-परिज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। जैन दर्शन में कहा गया है, कि वस्तु का यथार्थ अधिगम एवं परिबोध प्रमाण और नय से होता है। अतः वस्तु-परिज्ञान के लिए प्रमाण और नय दोनों की आवश्यकता है। दोनों में अन्तर यही है, कि प्रमाण वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है, अतः वह सकलादेश है। नय वस्तु को खण्ड रूप में ग्रहण करता है, अतः वह विकलादेश है। 'यह घट है'—यह सकलादेश प्रमाण

है। 'यह रूपवान् घट है' यह विकलादेश नय है। क्योंकि इसमें घट वस्तु का परिज्ञान रूपमुखेन हुआ है, जबकि 'घटोऽयम्' कहने से घट के समस्त धर्मों का समावेश उसमें हो जाता है। वस्तुगत किसी एक धर्म का अथवा किसी एक गुण का बोध करने के लिए नय की आवश्यकता है। यह जैन दर्शन की अपनी विशेषता है, जो अन्य दर्शनों में नहीं है। जैन दर्शन, क्योंकि अनेकान्त दर्शन है, और अनेकान्त दर्शन में प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का यथार्थ बोध, प्रमाण और नय से ही किया जा सकता है। प्रमाण के स्वरूप के विषय में भी जैन दर्शन का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उसके प्रमाण का वर्गीकरण भी अन्य परम्पराओं से सर्वथा भिन्न शैली पर हुआ है।

सामान्यतया प्रमाण का अर्थ है—जिसके द्वारा पदार्थ का सम्यक् परिज्ञान हो। शब्दव्युत्पत्ति की दृष्टि जो प्रमा का साधकतम करण हो, वह प्रमाण है। नैयायिक प्रमा में साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं, परन्तु जैनदर्शन ज्ञान को ही प्रमा में साधकतम मानता है। प्रमा क्रिया एक चेतन क्रिया है, अतः उसका साधकतम करण भी ज्ञान ही हो सकता है, सन्निकर्ष नहीं, क्योंकि वह अचेतन है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण का लक्षण है—'स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।' इस लक्षण में कहा गया है, कि स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। स्व का अर्थ है—ज्ञान और पर का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न पदार्थ।

जैन दर्शन उसी ज्ञान को प्रमाण मानता है, जो अपने आपको भी जाने और अपने से भिन्न पर पदार्थों को भी जाने। और वह भी निश्चयात्मक एवं यथार्थ रूप में। उपादेय क्या है? तथा हेय क्या है? और हेय उपादेय से भिन्न उपेक्षित क्या है? इसका निर्णय करना ही प्रमाण की उपयोगिता है। परन्तु प्रमाण की यह उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है, जबकि प्रमाण को ज्ञानरूप माना जाए। यदि प्रमाण ज्ञानरूप न होकर, अज्ञानरूप होगा, तो वह उपादेय एवं हेय का विवेक नहीं कर सकेगा। फिर प्रमाण की सार्थकता क्या होगी? प्रमाण की सार्थकता और उपयोगिता तभी है, जबकि उससे स्व और पर का परिज्ञान हो, साथ ही ज्ञेय के हान, उपादान एवं उपेक्षा का विवेक हो।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमा का साधकतम करण सन्निकर्ष को माना है। परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष जड़ है। जो जड़ होता है, वह घट की तरह स्व और पर का निश्चय करने में असमर्थ होता है। क्या कभी घट को पता होता है कि मैं कौन हूँ, और ये मेरे आस-पास में क्या है? नहीं होता, क्योंकि वह जड़ है, चेतनाशून्य है, अतः वह घट प्रमा का साधकतम करण भी नहीं बन सकता है। न्याय दर्शन में इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहा है। वैशेषिक दर्शन भी सन्निकर्ष को प्रमाण मानता है। परन्तु ज्ञान रूप न होने से सन्निकर्ष की प्रमाणता का जैन-दर्शन में स्पष्ट निषेध किया गया है।

प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण करते समय यह कहा गया है, कि प्रमाण निश्चयात्मक एवं व्यवसाय-स्वभाव होता है। परन्तु बौद्ध दर्शन में अव्यवसायी निर्विकल्पक ज्ञान को

प्रमाण माना गया है। जैन दर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं—जिसमें केवल वस्तु की सत्तामात्र का ज्ञान होता है—वही बौद्धों का निर्विकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान में 'यह घट है' और 'यह पट है'—इत्यादि वस्तुगत विभिन्न विशेषों का परिज्ञान नहीं होता। इसी कारण निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। जब तक वस्तु की विशिष्टता का परिज्ञान नहीं होता, तब तक वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। इसी आधार पर कहा गया है, कि बौद्ध दर्शन में अभिमत निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है।

ज्ञान मात्र प्रमाण नहीं है, जो ज्ञान व्यवसायात्मक होता है, वही प्रमाणकोटि में आता है। यदि ज्ञान मात्र को ही प्रमाण माना जाए, तब तो विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय को भी प्रमाण कहा जाएगा। क्योंकि ये भी ज्ञान तो हैं ही, भले ही विपरीत ही क्यों न हों? उक्त तीनों के प्रमाणत्व का निषेध करने के लिए प्रमाण को व्यवसायस्वभाव अथवा निश्चयरूप कहा गया है। सीप को चाँदी समझ लेना, और रस्सी को साँप समझ लेना—इस प्रकार के विपरीतैककोटिस्पर्शी मिथ्याज्ञान को जैन दर्शन में विपर्यय कहा जाता है। विपर्यय में वस्तु का एक ही धर्म जान पड़ता है, और वह विपरीत ही होता है। इसी कारण वह मिथ्याज्ञान है, प्रमाण नहीं है।

एक ही वस्तु में अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान, संशय है। जैसे अन्धकार में दूरस्थ किसी ढूँठ को देखकर सन्देह होना कि यह स्थाणु है या पुरुष है। संशय भी मिथ्याज्ञान होने से प्रमाण नहीं है। क्योंकि इसमें न तो स्थाणु को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण ही होता है, और न पुरुष का निषेध करने वाला बाधक प्रमाण ही होता है। अतः न इसमें स्थाणुत्व का निश्चय होता है और न पुरुषत्व का ही। निश्चय का अभाव होने से इसे प्रमाण नहीं कह सकते।

मार्ग में गमन करते समय तृण आदि का स्पर्श होने पर 'कुछ है'—इस प्रकार के ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। इसमें किसी भी वस्तु का निश्चय नहीं हो पाता है। निश्चय न होने के कारण से ही इसको प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

विपर्यय और संशय में भेद यह है, कि विपर्यय में एक अंश की प्रतीति होती है, जबकि संशय में दो या अनेक अंशों की प्रतीति होती है। विपर्यय में एक अंश निश्चित होता है—भले ही वह विपरीत ही क्यों न हो। परन्तु संशय में दोनों अंश अनिश्चित होते हैं। संशय और अनध्यवसाय में भेद यह है, कि संशय में यद्यपि विशेष वस्तु का निश्चय नहीं होता, फिर भी उसमें विशेष का स्पर्श तो होता ही है, परन्तु अनध्यवसाय में तो किसी भी प्रकार के विशेष का स्पर्श ही नहीं होता। विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय, ज्ञान होने पर भी प्रमाणकोटि में नहीं आते। क्योंकि ये तीनों सम्यक् ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान हैं। मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है।

प्रमाण का स्वरूप समझाते समय कहा गया था, कि जो ज्ञान स्व-पर का निश्चय करता है, वह प्रमाण है। स्व का अर्थ है—ज्ञान और पर का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न 'घट-पट'

आदि पदार्थ। परन्तु शून्यवादी बौद्ध घट आदि बाह्य पदार्थ को और ज्ञान आदि आन्तरिक पदार्थ को स्वीकार नहीं करता है। उसके विचार में शून्य ही सब कुछ है। इस विश्व में शून्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, यही उसका अभिमत है। इसी आधार पर उसे शून्यवादी कहा जाता है। शून्यवादी बौद्ध शून्य को ही सत् मानता है, उसके अतिरिक्त सबको मिथ्या। विज्ञानवादी बौद्ध घट आदि बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसके मत में विज्ञान ही सब कुछ है। विज्ञान के अतिरिक्त जो भी कुछ है, वह सब मिथ्या है। वेदान्तदर्शन भी बाह्य पदार्थ को मिथ्या कहता है। वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समग्र पदार्थ असत् हैं। इन सबके विपरीत जैन दर्शन ज्ञान को सत् स्वीकार करता है और ज्ञान के द्वारा प्रतीत होने वाले घट आदि बाह्य पदार्थ को भी सत् स्वीकार करता है। इसी आधार पर जैन दर्शन के प्रमाण लक्षण में 'स्व और पर' दोनों का समावेश किया गया है। इसका अर्थ है कि प्रमाण अपने को भी जानता है और पर को भी।

प्रमाण के स्वरूप और लक्षण का निर्धारण धीरे-धीरे विकसित हुआ है। कणाद ने निर्दोष ज्ञान को प्रमाण कहा था। गौतम के न्याय-सूत्र में प्रमाण सामान्य का लक्षण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु उसके समर्थ भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है, कि अर्थ की उपलब्धि में साधन ही प्रमाण है। मीमांसक प्रभाकर ने अनुभूति को प्रमाण कहा है। सांख्य दर्शन में इन्द्रिय-व्यापार के सामान्य लक्षण को प्रमाण स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शन में अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। जैन परम्परा के विभिन्न आचार्यों ने भी प्रमाण का विभिन्न प्रकार से लक्षण किया है।

जैन न्याय के पिता और अपने युग के प्रौढ़ दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' नामक न्यायग्रन्थ में स्व-पर के निश्चय करने वाले बाधविवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है। आचार्य सिद्धसेन की भौति आचार्य समन्तभद्र ने भी स्व-पर-अवभासि ज्ञान को प्रमाण कहा है। वादिदेव सूरि ने अपने प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थ 'प्रमाण-नय तत्वालोक' में उसी ज्ञान को प्रमाण माना है, जो स्व-पर का निश्चय कराने वाला हो। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ प्रमाण मीमांसा में अर्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण माना है। जैन तर्क भाषा में उपाध्याय यशोविजय जी ने वादिदेव सूरि के लक्षण को ही स्वीकार कर लिया है।

श्वेताम्बर आचार्यों ने प्रमाण-लक्षण का विकास किस प्रकार किया, यह मैंने आपको बताया। दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने भी इस विषय में पर्याप्त चिन्तन किया है। 'परीक्षा-मुख' में उस ज्ञान को प्रमाण माना है, जो स्व और अपूर्व अर्थ का ग्राहक हो। यतिभूषण ने अपने 'न्याय-दीपिका' ग्रन्थ में सीधी भाषा में सम्यक्ज्ञान को ही प्रमाण माना है। इस प्रकार जैनों की उभय परम्पराओं ने घूम फिर कर एक ही बात कही है, कि सम्यक्ज्ञान ही प्रमाण है। जैन-दर्शन के प्रमाण लक्षणों में सम्यक्ज्ञान को प्रमाण माना गया है। सबकी शब्दावली भिन्न होने पर भी सबका अभिप्राय एक ही है।



न्याय-शास्त्र में प्रमाण का सामान्य लक्षण है—‘प्रमा का करण’। प्रमा का करण ही प्रमाण है। प्रश्न उठ सकता है, कि प्रमा क्या है ? इसके उत्तर में यह कहा गया है, जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को वैसी ही समझना प्रमा है। रजत को रजत समझना प्रमा है, और शुक्ति को रजत समझ लेना अप्रमा है। करण का अर्थ है—साधकतम। एक कार्य की सिद्धि में अनेक साधन हो सकते हैं, पर वे सब करण नहीं बन सकते। करण तो एक ही होता है। जिस व्यापार के तुरन्त बाद फल की प्राप्ति हो, वही करण होता है। न्याय-शास्त्र में प्रमा के पूर्वक्षणवर्ती करण को ही वस्तुतः प्रमाण कहते हैं। परन्तु प्रश्न उठता है, कि करण है क्या वस्तु ? न्यायदर्शन में, जैसा कि मैं पहले आपको बता चुका हूँ, सन्निकर्ष को प्रमा का करण माना है। बौद्ध दर्शन में योग्यता को प्रमा का करण कहा है। जैन दर्शन में ज्ञान ही प्रमा का करण है। सन्निकर्ष तथा योग्यता तो ज्ञान की सहकारी सामग्री है।

प्रमाण-शास्त्र के अनुसार प्रमाण का मौलिक फल है—अज्ञान की निवृत्ति, अनन्तर फल है—अभिमत वस्तु का स्वीकार, अनभिमत वस्तु का परिहार और तटस्थ उपेक्षा। जैनदर्शन में इन्हीं को प्रमाण का फल माना है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि ज्ञान को ही प्रमाण माना जाए। इसी आधार पर जैनदर्शन में यथार्थ ज्ञान को अर्थात् ‘सम्यक् ज्ञान’ को प्रमाण माना है।

प्रश्न होता है, कि क्या ज्ञान और प्रमाण एक ही हैं ? अथवा उनमें कुछ अन्तर भी है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि दोनों में यही अन्तर है—ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान और प्रमाण में व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्बन्ध है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक्ज्ञान यथार्थ और संशय आदि मिथ्याज्ञान अयथार्थ। परन्तु प्रमाण तो यथार्थ ज्ञान ही हो सकता है। अतः समस्त जैन तार्किकों ने अपने-अपने प्रमाणलक्षण में किसी न किसी रूप में यथार्थ अथवा सम्यक् ज्ञान को अवश्य ही रखा है। जैन दृष्टि से सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है।

जैनदर्शन में आगम और तत्त्वार्थभाष्य के समय तक प्रमाण का लक्षण स्पष्ट और परिष्कृत नहीं हो पाया था। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ‘न्यायावतार-सूत्र’ में प्रमाण का स्पष्ट लक्षण देकर वस्तुतः जैन प्रमाण-शास्त्र की आधार-शिला रखी। आचार्य समन्तभद्र ने जो अपने युग के एक समर्थ आचार्य थे, उन्होंने अपने ग्रन्थों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के लक्षण का ही समर्थन किया। आगे चलकर अकलंकदेव ने उसे तर्क की कसौटी पर कसा। फिर आचार्य माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र और यति धर्मभूषण ने अपने-अपने ग्रन्थों में अपने-अपने ढंग से उसका विशदीकरण किया। परन्तु उपाध्याय यशोविजय ने प्रमाण-लक्षण को नव्यन्याय के नव्य आलोक में पहुँचा दिया। आचार्य सिद्धसेन से प्रारम्भ होकर उपाध्याय यशोविजय तक प्रमाण का लक्षण अधिकाधिक स्पष्ट, परिष्कृत और परिपुष्ट बनता गया।

जैन तार्किकों ने अपने प्रमाण-शास्त्र की परिपुष्टि के साथ-साथ बौद्ध और वैदिक तार्किकों की ओर से उठने वाले तर्कों के तूफान का उत्तर भी दिया। आचार्य अकलंकदेव,

प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि और आचार्य हेमचन्द्र इस दिशा में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञान-बिन्दु, जैनतर्कभाषा और नयोपदेश जैसे ग्रन्थ देकर जैनदर्शन को एक अपूर्व देन दी है। दर्शन और न्याय के क्षेत्र में उपाध्याय यशोविजय जी की उद्भावना का सदा आदर और सत्कार होता रहेगा।

मैंने आपके सामने प्रमाण के लक्षण के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातें कही हैं, प्रमाण के सम्बन्ध में बहुत गहनता और सूक्ष्मता में उतरना यहाँ अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रमाण के सम्बन्ध में एक बात और जान लेना आवश्यक है, और वह है—प्रमाण का प्रमाणत्व। प्रमाण के द्वारा जिस वस्तु का जिस रूप में बोध होता है, उस वस्तु का उसी रूप में प्राप्त होना—प्रमाण का प्रमाणत्व है। तर्क-शास्त्र में इसको प्रामाण्यवाद कहते हैं। प्रामाण्य का क्या लक्षण है? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि प्रमाण के द्वारा प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना, प्रामाण्य है। अथवा प्रमाण के धर्म को प्रामाण्य कहते हैं। प्रमाण का प्रमाणत्व क्या है? इस विषय में वादिदेवसूरि ने स्वप्रणीत 'प्रमाणनयतत्वालोक' ग्रन्थ में कहा है—प्रमेय पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानना—यही प्रमाण का प्रमाणत्व है। इसके विपरीत प्रमेय पदार्थ को अन्यथा रूप में जानना—यही प्रमाण का अप्रमाणत्व है। प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व का यह भेद बाह्य पदार्थ की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को तो वास्तविक रूप में ही जानता है। स्वरूप की अपेक्षा सब ज्ञान प्रमाणरूप होते हैं। प्रमाण में प्रमाणत्व अथवा अप्रमाणत्व बाह्य पदार्थ की अपेक्षा से ही आता है। प्रमाण के प्रमाणत्व को निश्चय करने वाली कसौटी क्या है? इस विषय में जैनदर्शन का कथन है, कि प्रमाण के प्रमाणत्व का निश्चय कभी स्वतः होता है, कभी परतः होता है। अभ्यास-दशा में स्वतः होता है और अनभ्यास दशा में परतः होता है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है। वह कहता है कि प्रत्येक ज्ञान प्रमाण रूप ही होता है। ज्ञान में जो अप्रामाण्य आता है, वह बाह्य दोष के कारण से आता है। मीमांसा दर्शन में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः मानी गई है, और अप्रामाण्य की परतः। इसको तर्कशास्त्र में स्वतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है। नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी है। वह कहता है, कि ज्ञान प्रमाण है अथवा अप्रमाण है? इसका निर्णय बाह्य पदार्थ के आधार पर ही किया जा सकता है। न्याय-दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की कसौटी बाह्य पदार्थ माना गया है। ज्ञान स्वतः न तो प्रमाण है और न अप्रमाण। यह परतः प्रामाण्यवाद है। सांख्य-दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं। सांख्य की यह मान्यता नैयायिक के विपरीत है। क्योंकि नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानता है, जबकि सांख्यदर्शन दोनों को स्वतः मानता है। बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों को अवस्थाविशेष में स्वतः और अवस्थाविशेष में परतः माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि प्रमाण के प्रमाणत्व को लेकर, किस प्रकार दार्शनिकों में विचार-भेद एवं मतभेद रहा है।

प्रमाण के सम्बन्ध में बहुत सी बातों पर विचार किया गया है, उनमें एक है, प्रमाण की संख्या का विचार। प्रमाण की संख्या के विषय में भी भारत के दार्शनिक एकमत नहीं हैं। चार्वाक दर्शन केवल एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। वैशेषिक दर्शन में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान। सांख्य दर्शन में तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। न्याय-दर्शन में चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रभाकर मीमांसा दर्शन में पाँच प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति। भट्ट मीमांसा दर्शन में छह प्रमाण हैं—पूर्वोक्त पाँच और छठा अभाव। बौद्ध दर्शन में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।

जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या के विषय में तीन मत हैं—कहीं पर चार प्रमाण स्वीकार किए गए हैं, कहीं पर तीन प्रमाण माने गए हैं और कहीं पर दो प्रमाण ही कहे गए हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में चार प्रमाणों का उल्लेख है—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत 'न्यायावतार सूत्र' में तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। आचार्य उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थ सूत्र' में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैनदर्शन के ग्रन्थों में प्रमाण का विभाजन और वर्गीकरण विविध प्रकार से किया गया है। उत्तरकाल के जैनदर्शन के ग्रन्थों में प्रमाण के जो चार और तीन भेदों का वर्णन है, यह स्पष्ट है, कि उन पर न्याय और सांख्य दर्शन का प्रभाव है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि प्रमाणों के सम्बन्ध में जैनों का अपना कोई मौलिक विचार न हो।

जैनदर्शन के अधिकांश ग्रन्थों में प्रमाण के दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उक्त भेदों में प्रमाण के समग्र भेद समाहित हो जाते हैं। अन्य किसी भी दर्शन में प्रमाण का इस प्रकार वर्गीकरण और विभाजन नहीं किया गया है। उक्त दो भेदों में तर्क-शास्त्र सम्मत सभी भेद और उपभेदों को समेट लिया गया है।

सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष की क्या परिभाषा की गई है? मुख्य रूप में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा गया है, कि जो ज्ञान आत्म-मात्र सापेक्ष है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन सापेक्ष होता है, उसे परोक्ष कहा गया है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद किए गए हैं—सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सकल प्रत्यक्ष में केवलज्ञान को माना गया है और विकल प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान को माना गया है।

दार्शनिक जगत में प्रायः सभी ने एक ऐसे प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है, जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न हो। शास्त्रीय भाषा में उसे अलौकिक प्रत्यक्ष तथा योगि-प्रत्यक्ष कहा गया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि आत्मा में एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन दर्शन में आत्ममात्रसापेक्ष एवं अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य, प्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है। जिस प्रकार दूसरे दर्शनों में अलौकिक प्रत्यक्ष के परचित्त ज्ञान एवं कैवल्य ज्ञान

आदि रूप से भेद पाए जाते हैं, उसी प्रकार जैन दर्शन में बहुत ही अधिक स्पष्ट रूप में आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान में अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान का कथन किया गया है।

इसका अर्थ इतना ही है कि जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के अवधि आदि तीन भेद किए गए हैं और आगे चलकर फिर प्रत्यक्ष के दो भेद किए गए—सकल और विकल। भले ही सकल और विकल भेद प्रत्यक्ष के लिए गए हों, किन्तु उन तीनों में प्रत्यक्षत्व इस आधार पर है, कि इन तीनों ज्ञानों में इन्द्रिय-व्यापार और मनोव्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। कुछ जैन-तर्क-ग्रन्थों में लोकसम्मत प्रत्यक्ष को समाहित करने के लिए प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष। सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सापेक्ष और मनःसापेक्ष ज्ञान को कहते हैं। वस्तुतः यह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु व्यवहार मात्र के लिए इसे प्रत्यक्ष कहा गया है। परमार्थ-दृष्टि से तो आत्ममात्रसापेक्ष अवधि, मनःपर्याय और केवल—यह तीन ज्ञान ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्ध तार्किकों ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषयभूत अर्थ में किया है, क्योंकि उन्होंने दो प्रकार का अर्थ माना है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात् क्रियमाण है और परोक्ष उससे भिन्न। परन्तु जैन दर्शन में परोक्ष शब्द का प्रयोग परापेक्ष ज्ञान में ही होता रहा है। प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म हैं। ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने पर ही अर्थ भी उपचार से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है।

मैं यह अवश्य कहूँगा कि जैनदर्शन में प्रयुक्त परोक्ष शब्द का व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरों को कुछ विलक्षण-सी प्रतीत होती है, परन्तु वह इतनी स्पष्ट और यथार्थ है, कि सहज में ही उसका आर्थिक बोध हो जाता है। एक बात और है, परोक्ष की जैन दर्शन-सम्मत परिभाषा विलक्षण इसलिए भी प्रतीत होती है, कि लोक में इन्द्रिय व्यापार से सहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है और इन्द्रिय-व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष। वास्तव में परोक्ष शब्द से यह अर्थ ध्वनित भी होता है। अतः आचार्य अकलंक देव ने परोक्ष की एक दूसरी परिभाषा रची है, और कहा है कि अविशद ज्ञान ही परोक्ष है।

ऐसा जान पड़ता है, कि आचार्य अकलंक देव का यह प्रयत्न सिद्धान्त पक्ष का लोक के साथ समन्वय करने की दृष्टि से हुआ है। उत्तर काल के समस्त आचार्यों ने आगे चलकर परोक्ष के इसी लक्षण को अपनाया और अपने-अपने ग्रन्थों में प्रकारान्तर और शब्दान्तर से स्थान दिया।

एक बात यहाँ पर और जान लेनी चाहिए कि आचार्य अकलंक देव से पूर्ववर्ती जिन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में परोक्ष प्रमाण का निरूपण किया है, उनमें आचार्य कुन्दकुन्द और वाचक उमास्वाति मुख्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने परोक्ष का लक्षण तो कर दिया, परन्तु उसके भेदों का कोई निर्देश नहीं किया। वाचक उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ

सूत्र' और उसके भाष्य में परोक्ष के भेदों का भी कथन स्पष्टतया किया है। वाचक उमास्वाति ने परोक्ष के दो भेद किए हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में उपमान आदि प्रमाण का परोक्ष में अन्तर्भाव किया। आचार्य वादिदेव सूरि ने स्वप्रणीत 'प्रमाणनयतत्वालोक' में परोक्ष का स्पष्ट लक्षण करते हुए विस्तार के साथ उसके भेदों का भी कथन किया है। परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं? इस प्रश्न का उत्तर एक प्रकार से नहीं दिया जा सकता। कहीं पर परोक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए हैं—अनुमान और आगम। और कहीं पर परोक्ष-प्रमाण के पाँच भेद किए गए हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इन्हें सभी ने निर्विवाद रूप से परोक्ष प्रमाण स्वीकार किया है। परोक्ष प्रमाण के उक्त भेदों में सभी भेद और उपभेद समाहित हो जाते हैं।

स्मृति का अर्थ है—वह ज्ञान जो पहले कभी अनुभवात्मक था, और निमित्त मिलने पर जिसका स्मरण होता है। यद्यपि अनुभूतार्थ विषयक ज्ञान के रूप में स्मृति को सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है, परन्तु उसे प्रमाण नहीं माना गया। जैन दर्शन स्मृति को भी प्रमाण मानता है। स्मृति को प्रमाण न मानने वालों का सामान्यतया कथन यही है, कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय में ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीतग्राही होने से वह प्रमाण नहीं है। न्याय और वैशेषिक तथा मीमांसक और बौद्ध गृहीतग्राही को प्रमाण नहीं मानते हैं। जैनदर्शनिकों का कथन है, कि किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य में प्रयोजक अविस्वादा होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ में विसंवाद न होने से वह प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थ में भी किसी प्रकार का विसंवाद नहीं होता। अतः स्मृति को प्रमाण मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। और जहाँ स्मृति में विसंवाद आता है, वहाँ वह स्मृति न होकर स्मृत्याभास होती है। स्मृत्याभास को हम प्रमाण नहीं मानते। दूसरे विस्मरणादि रूप अज्ञान का वह व्यवच्छेद करती है, इसलिए भी स्मृति प्रमाण है। तीसरे अनुभव तो वर्तमान अर्थ को ही विषय करता है और स्मृति अनुभूत अर्थ को अतीत रूप से विषय करती है, अतः इस अर्थ में स्मृति अगृहीतग्राही होने से भी प्रमाण रूप है। उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

परोक्ष प्रमाण का दूसरा भेद है—प्रत्यभिज्ञान। पूर्वोत्तरविवर्तवर्ती वस्तु को विषय करने वाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं, अतः क्षणिकवादी होने के नाते वे प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते। उनका कथन है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में रहने वाला जब कोई एकत्व ही नहीं है, तब उसको विषय करने वाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है? यह वही है—यह ज्ञान सादृश्य विषयक है। क्योंकि भूतकाल की अनुभूत वस्तु तो उसी क्षण नष्ट हो गई, और अब वर्तमान में जो वस्तु है, वह उसके सदृश अन्य ही वस्तु है। अतः प्रत्यभिज्ञान उस भूतकाल की वस्तु को वर्तमान में नहीं देखता, अपितु उसके सदृश अन्य वस्तु को ही जान रहा है। अथवा वह प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञानों का समुच्चय है। 'यह' इस अंश को विषय करने वाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और

‘वही’ इस अंश को विषय करने वाला स्मरण है। इस प्रकार वह एक ज्ञान नहीं, बल्कि दो ज्ञान हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को एक ज्ञान मानने को तैयार नहीं हैं।

इसके विपरीत नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक एकत्व-विषयक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते हैं। पर वे उस ज्ञान को स्वतन्त्र एवं परोक्ष प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन का कथन है कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धों के समान अप्रमाण है और न नैयायिक, वैशेषिक आदि के समान प्रत्यक्ष ही है। किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मृति के अनन्तर उत्पन्न होने वाला तथा अपनी पूर्व तथा उत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व एवं सादृश्य आदि को विषय करने वाला स्वतन्त्र ही परोक्ष प्रमाण-विशेष है। प्रत्यक्ष तो मात्र वर्तमान पर्याय को ही विषय करता है और स्मरण अतीत-पर्याय को ग्रहण करता है, परन्तु प्रत्यभिज्ञान एक ऐसा प्रमाण है, जो उभय पर्यायवर्ती एकत्वादि को विषय करने वाला संकलनात्मक ज्ञान है। यदि पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी एकत्व का अपलाप किया जाएगा, तो कहीं भी एकत्व का प्रत्यय न होने से एक सन्तान की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है, कि प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्वादि वास्तविक होने से वह प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं। प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद जैन दर्शन के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जैसे—एकत्व-प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान को जैन दर्शन में प्रमाण माना है, अप्रमाण नहीं। जहाँ तक उसके भेद और उपभेदों का प्रश्न है, वहाँ कुछ विचार भेद अवश्य हो सकता है, परन्तु इस विषय में किसी प्रकार का विवाद एवं विचार भेद नहीं है, कि प्रत्यभिज्ञान एक परोक्ष प्रमाण है।

परोक्ष प्रमाण का तीसरा भेद है—तर्क। साधारणतया विचार-विशेष को तर्क कहा जाता है। चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि, इसके पर्यायवादी शब्द हैं। तर्क को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। तर्क के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में न्याय दर्शन का अभिमत है, कि तर्क न तो प्रत्यक्षादि प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर, क्योंकि वह अपरिच्छेदक है, किन्तु परिच्छेद प्रमाणों के विषय का विभाजक होने से वह उनका अनुग्राहक है—सहकारी है। नैयायिक का कथन है, कि प्रमाण से जाना हुआ पदार्थ तर्क के द्वारा परिपुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ पदार्थों को जानते हैं, वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणता को स्थिर करने में सहायता देता है। यही कारण है कि न्याय दर्शन में तर्क को सभी प्रमाणों के सहायक रूप में माना गया है। किन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्य उदयन ने और उपाध्याय वर्द्धमान आदि ने विशेषतः अनुमान प्रमाण में ही व्यभिचार-शंका के निवर्तक रूप से तर्क को स्वीकार किया है। व्याप्ति-ज्ञान में भी तर्क को उपयोगी बतलाया गया है। इस प्रकार न्याय दर्शन में तर्क की मान्यता अनेक प्रकार से उपलब्ध होती है। पर न्याय दर्शन में उसे प्रमाण-रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। बौद्ध दर्शन में तर्क को व्याप्तिग्राहक मानकर भी उसे प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प कहकर

अप्रमाण ही माना है। मीमांसा दर्शन में अवश्य ही तर्क को प्रमाण कोटि में माना गया है। परन्तु जैन तार्किक प्रारम्भ से ही तर्क के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, जैन तर्क-शास्त्र में उसे सकल देशकालव्यापी अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्राहक माना गया है। व्याप्ति-ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है, क्योंकि वह सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है, जब कि व्याप्ति सकल देशकाल के उपसंहारपूर्वक होती है। अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृत अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है और अन्य अनुमान से मानने पर अनवस्था दोष आता है। इसलिए व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

जैनदर्शन के अनुसार परोक्ष प्रमाण का चतुर्थ भेद है—अनुमान। अनुमान के सम्बन्ध में यह कहा जाता है, कि साधन से साध्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के शेष समस्त दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है। चार्वाक दार्शनिक अनुमान को इसलिए प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि वह किसी अतीन्द्रिय पदार्थ में विश्वास नहीं रखते। अतः उन्हें अनुमान मानने की आवश्यकता ही नहीं। जिन दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है, उन सभी ने अनुमान के दो भेद माने हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। ये दो भेद प्रायः सभी ने स्वीकार किये हैं। परन्तु अनुमान के लक्षण के सम्बन्ध में सबका एक विचार और एकवाक्यता नहीं है। न्याय दर्शन के अनुसार अनुमिति के कारण को अनुमान कहा गया है। वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय अर्थ के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। मीमांसक नियत सम्बंधैक दर्शनादि चतुष्टय कारणों से होने वाले साध्यज्ञान को अनुमान कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार अनुमान का लक्षण इस प्रकार है—अविनाभावरूपैकलक्षण। साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। वस्तुतः जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उस साध्याविनाभावी हेतु से जो साध्य का ज्ञान होता है, वही अनुमान है। यदि हेतु साध्य के साथ अविनाभूत नहीं है, तो वह साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है। और यदि वह साध्य का अविनाभावी है तो वह नियम से साध्य का ज्ञान कराएगा। इसी आधार पर जैन तार्किकों ने त्रिरूप या पञ्च रूप लिङ्ग से जनित ज्ञान को अनुमान न कहकर अविनाभावी साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है।

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति कहीं यात्रा करते हुए जा रहा है, उसने दूर पर किसी पर्वत पर धूम उठता हुआ देखा। धूम को प्रत्यक्ष देखकर वह अनुमान करता है, कि उस पर्वत पर धूम है, अतः वहाँ पर अग्नि भी होनी चाहिए। क्योंकि धूम बिना अग्नि के कभी नहीं होता है। इस प्रकार धूम रूप साधन से अग्नि रूप साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। साधन से साध्य का ज्ञान जब स्वयं के लिए किया जाता है, तब वह स्वार्थानुमान कहलाता है और जब वह किसी दूसरे को कराया जाता है, तब वह परार्थानुमान कहा जाता है। जैनदर्शन के अनुसार अनुमान प्रमाण होते हुए भी वह परोक्ष प्रमाण है। सभी दार्शनिक अनुमान को परोक्ष प्रमाण मानते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का विचार-भेद नहीं है।

परोक्ष प्रमाण का पाँचवाँ भेद है—आगम। न्याय-शास्त्र में आगम प्रमाण को शब्द-प्रमाण भी कहा जाता है। आगम प्रमाण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि आप्त-पुरुष के वचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ-संवेदन आगम है। आप्त-पुरुष कौन होता है? इसके उत्तर में कहा गया है, कि जो तत्व को यथावस्थित जानने वाला हो और जो तत्व का यथावस्थित निरूपण करने वाला हो, वह आप्तपुरुष है। राग एवं द्वेष आदि दोषों से रहित पुरुष ही आप्त हो सकता है, क्योंकि वह कभी विसंवादी और मिथ्यावादी नहीं होता है। जो व्यक्ति विसंवादी अथवा मिथ्यावादी होता है, उसे आप्त पुरुष नहीं कहा जा सकता। जैन दर्शन में कहा गया है कि आप्त पुरुष के वचनों से होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है। जब हम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं तब उस आप्त पुरुष के जड़ वचन को प्रमाण कैसे कह सकते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है, कि उपचार से आप्त के वचनों को प्रमाण कहते हैं। निश्चय में तो आप्तवचनों के श्रवण या अध्ययन से होने वाला ज्ञान ही आगम प्रमाण है। आप्त-पुरुष के दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। सत्य प्रवक्ता साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त होते हैं, और तीर्थंकर आदि विशिष्ट आप्त लोकोत्तर आप्त होते हैं।

मैंने आपसे प्रमाण के सम्बन्ध में संक्षेप में किन्तु स्पष्ट विचार-चर्चा की है। प्रमाण के भेद और उपभेदों में अधिक गहरा उतरना और उसकी विस्तार से चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसका गम्भीर विचार तर्क शास्त्र में विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ तो केवल इतना बतलाना ही अभीष्ट है, कि जैन दर्शन में प्रमाण की जो स्थिति है, उसका क्या स्वरूप है और उसके मुख्य-मुख्य भेद कितने हैं? आगमों में अनेक स्थलों पर प्रमाण की गम्भीर विचारणा की गई है। आगमोत्तर साहित्य के ग्रन्थों में, जो विशेष रूप से तर्क-शास्त्र से सम्बद्ध हैं, तर्क शैली के आधार पर प्रमाण के स्वरूप पर गम्भीरता और विस्तार के साथ विचार किया गया है।

प्रमाण के स्वरूप को और उसके प्रमुख भेदों को जान लेने के बाद एक प्रश्न उपस्थित यह होता है, कि प्रमाण का फल क्या है? प्रत्येक व्यक्ति क्रियमाण क्रिया के फल को जानने की अभिलाषा रखता है। प्रमाण भी एक बोधरूप क्रिया है। उसका फल क्या है? यह एक सहज जिज्ञासा है, जो प्रत्येक व्यक्ति के मानस में उठती रहती है। प्रमाण के फल के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का क्या दृष्टिकोण रहा है, और वे प्रमाण के फल को किस रूप में स्वीकार करते हैं, यह विषय भी बड़ा ही रोचक और महत्वपूर्ण है। प्रमाण के फल के सम्बन्ध में जो कुछ विचार विभिन्न ग्रन्थों में उपनिबद्ध हैं, उसका सार इस प्रकार है :

प्रमाण का मुख्य फल एवं प्रयोजन अज्ञान-निवृत्ति है, अर्थ-प्रकाश है। किसी भी पदार्थ का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए एवं पदार्थ-सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। प्रमाण के अभाव में वस्तु का परिबोध नहीं हो सकता। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि प्रमाण का फल अज्ञान का नाश ही है।



आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' ग्रन्थ में प्रमाण के फल का कथन करते हुए कहा है, कि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान-निवृत्ति ही है। अज्ञान-निवृत्ति के अनन्तर होने वाले परम्पराफल के रूप में केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है। शेष चार ज्ञानों का फल ग्रहण-बुद्धि और त्याग-बुद्धि है। सामान्य रूप में प्रमाण का फल इतना ही है कि उसके रहते अज्ञान नहीं रहने पाता। जिस प्रकार सूर्य के आकाश में स्थित होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है, अन्धकार कहीं ठहर नहीं पाता, उसी प्रकार प्रमाण से अज्ञान का विनाश हो जाता है। इस अज्ञान-नाश का किसके लिए क्या फल है, इसे स्पष्ट करने के लिए बताया गया है, कि जिस व्यक्ति को केवलज्ञान हो जाता है, उसके लिए अज्ञान-नाश का यही फल है, कि उसे आध्यात्मिक सुख एवं आनन्द प्राप्त हो जाता है और जगत के पदार्थों के प्रति उसका उपेक्षा भाव रहता है। दूसरे लोगों के लिए अर्थात् छद्मस्थ जीवों के लिए अज्ञान-नाश का फल ग्रहण और त्याग रूप बुद्धि का उत्पन्न होना है। निर्दोष वस्तु को ग्रहण करना और सदोष वस्तु का परित्याग करना। हेय को छोड़ना और उपादेय को ग्रहण करना। इस प्रकार का विवेक अज्ञान के विनाश से ही हो सकता है। यही विवेक सत् कार्य में प्रवृत्ति की प्रेरणा देने के साथ-साथ असत् कार्य से हटने की भी प्रेरणा देता है।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाण का यह फल ज्ञान से भिन्न नहीं है। पूर्वकालभावी ज्ञान उत्तरकालभावी ज्ञान के लिए प्रमाण है और उत्तरकालभावी ज्ञान पूर्वकालभावी ज्ञान का फल है। इस प्रकार प्रमाण और उसके फल की यह परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

प्रमाण के सम्बन्ध में जो कुछ मुझे कहना था, संक्षेप में मैं उसका कथन कर चुका हूँ। मैंने आपको प्रारम्भ में ही यह बतलाने का प्रयत्न किया था, कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का और प्रत्येक पदार्थ का अधिगम प्रमाण और नय से होता है। वस्तु भले ही जड़ हो अथवा चेतन, उसके वास्तविक स्वरूप का परिबोध प्रमाण और नय के अभाव में नहीं हो सकता। अतः प्रमाण और नय वस्तु-विज्ञान के लिए परमावश्यक साधन हैं।



### ३. नय-वाद

भगवान महावीर ने आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर कभी मौन धारण नहीं किया। जब कभी कोई जिज्ञासु उनके समीप आया और उसने आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न पूछा, तब भगवान ने अनेकान्त दृष्टि के आधार पर उसके प्रश्न का समाधान करने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि भगवान महावीर के समकालीन तथागत बुद्ध ने इस प्रकार के प्रश्नों को अव्याकृत कोटि में डाल दिया था।

भगवान् महावीर के युग के प्रचलितवादों का अध्ययन जब कभी हम प्राचीन साहित्य का अनुशीलन करते समय करते हैं, तब ज्ञात होता है, कि एक आत्मा के सम्बन्ध में ही किस प्रकार की विभिन्न धारणाएँ उस युग में थीं। आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार के विभिन्न विकल्प उस समय प्रचलित थे—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी, अनित्य भी, कर्ता भी और अकर्ता भी आदि-आदि।

भगवान महावीर ने अपनी अनेकान्तमयी और अहिंसामयी दृष्टि से अपने युग के विभिन्नवादों का समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया था। भगवान महावीर ने कहा—स्व-स्वरूप से आत्मा है, परस्वरूप से आत्मा नहीं है। द्रव्य-दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय-दृष्टि से आत्मा अनित्य है। द्रव्य-दृष्टि से आत्मा अकर्ता है और पर्याय दृष्टि से आत्मा कर्ता भी है।

वस्तुतः वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन की यह उदार दृष्टि ही अनेकान्तवाद है। इस अनेकान्त-दृष्टि का और अनेकान्तवाद का जब हम भाषा के माध्यम से कथन करते हैं, तब उस भाषा-प्रयोग को स्याद्वाद और सप्तभंगी कहा जाता है। अनेकान्तवाद का आधार है, सप्त नय। और सप्तभंगी का आधार है—सप्तभंग एवं सप्त विकल्प। भगवान महावीर ने अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद की भाषा का आविष्कार करके दार्शनिक जगत की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया था। यही कारण है, कि भगवान महावीर की यह अहिंसामूलक अनेकान्त दृष्टि और अहिंसामूलक सप्तभंगी जैन दर्शन की आधार-शिला है।

भगवान महावीर के पश्चात् विभिन्न युगों में होने वाले जैन आचार्यों ने समय-समय पर अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की युगानुकूल व्याख्या करके उसे पल्लवित और पुष्पित किया है। इस क्षेत्र में सबसे अधिक और सबसे पहले अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को विशद रूप देने का प्रयत्न आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने तथा आचार्य समन्तभद्र ने किया

था। उक्त दोनों आचार्यों ने अपने-अपने युग में उपस्थित होने वाले समग्र दार्शनिक प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया। आचार्य सिद्धसेन ने अपने 'सन्मतितर्क' नामक ग्रंथ में सप्तनयों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। जबकि आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'आप्त-मीमांसा' ग्रन्थ में सप्तभंगी का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन किया है। मध्य युग में इसी कार्य को आचार्य हरिभद्र और आचार्य अकलंक देव ने आगे बढ़ाया। नव्यन्याय युग में वाचक यशोविजय जी ने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर नव्य न्याय शैली में तर्क ग्रन्थ लिखकर दोनों सिद्धान्तों को अजेय बनाने का सफल प्रयत्न किया है। भगवान महावीर से प्राप्त मूल दृष्टि को उत्तरकाल के आचार्यों ने अपने युग की समस्याओं का समाधान करते हुए विकसित किया है।

भगवान महावीर के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को समझने के लिए नयवाद और सप्तभंगीवाद को समझना आवश्यक है। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए प्रमाण और नय दोनों को जानना आवश्यक है। प्रमाण की चर्चा मैं कर चुका हूँ। यहाँ पर सप्त नयों की चर्चा करनी ही अभीष्ट है। नय क्या वस्तु है और नय-ज्ञान से क्या लाभ है? यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। नयों को समझने के लिए यह आवश्यक है, कि उसके मूल स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया जाए।

सामान्यतया इस जगत में विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी। एक व्यक्ति अपने ज्ञान की सीमा में ही किसी भी वस्तु पर विचार कर सकता है। उसका जितना ज्ञान होगा, उतना ही वह उस वस्तु के स्वरूप को समझ सकेगा। यह ज्ञानाश्रयी पक्ष वस्तु का प्रतिपादन विचारप्रधान दृष्टि से करता है। अर्थाश्रयी अर्थ का विचार करते हैं। अर्थ में जहाँ एक ओर एक, नित्य और व्यापी रूप से चरम अभेद की कल्पना की जाती है, तो वहाँ दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टि से अन्तिम भेद की कल्पना भी की जाती है। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है। पहली कोटि में सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करने वाले अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्मतम वर्तमान क्षणिक अर्थ पर्याय के ऊपर दृष्टि रखने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटि में पदार्थ को नाना रूप से व्यवहार में लाने वाले नैयायिक एवं वैशेषिक आदि हैं। शब्दाश्रयी लोग भाषा-शास्त्री होते हैं, जो अर्थ की ओर ध्यान न देकर केवल शब्द की ओर ही विशेष ध्यान देते हैं। इनका कहना है कि भिन्न काल वाचक, भिन्न कारकों में निष्पन्न, भिन्न वचन वाले, भिन्न पर्यायवाचक और भिन्न क्रियावाचक शब्द एक अर्थ को नहीं कह सकते हैं। इनके कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ शब्दभेद होता है, वहाँ अर्थभेद होना ही चाहिए।

मैं आपसे कह रहा था कि इस प्रकार ज्ञान, अर्थ और शब्द का आधार लेकर प्रयुक्त होने वाले विचारों के समन्वय के लिए, जिन नियमों का प्रतिपादन किया गया है, उन्हें नय, अपेक्षा-दृष्टि और दृष्टिकोण कहा जाता है। नय एक प्रकार का विचार ही है।

ज्ञानाश्रित व्यवहार का संकल्प मात्र अर्थात् विचारमात्र को ग्रहण करने वाले नैगम नय में समावेश किया जाता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का संग्रह नय में अन्तर्भाव किया गया है। न्याय एवं वैशेषिक आदि दर्शन के विचारों का व्यवहार नय में समावेश किया गया है। क्षणिकवादी बौद्ध विचार को ऋजुसूत्र नय में आत्मसात् किया गया है। यहाँ तक अर्थ को सामने रख कर भेद एवं अभेद पर विचार किया गया है।

इससे आगे शब्द शास्त्र का विषय आता है। काल, कारक, संख्या और क्रिया के साथ लगने वाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदि की दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले शब्दों के वाच्य (अर्थ) भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार कारक एवं काल आदि वाचक शब्द-भेद से अर्थ-भेद ग्रहण करने वाली दृष्टि का शब्द-नय में समावेश किया गया है। एक ही साधन से निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। इन पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थ-भेद मानने वाली दृष्टि समभिरुद्ध नय है। एवम्भूत नय कहता है, कि जिस समय जो अर्थ क्रिया में परिणत हो, उसी समय उसमें उस क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टि में सभी शब्द क्रिया से निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवन रूप क्रिया से, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमन रूप क्रिया से, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलने रूप क्रिया से, नाम वाचक शब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देव ने इसको दिया' इस क्रिया से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार ज्ञान, अर्थ और शब्दरूप से होने वाले व्यवहारों का समन्वय इन सप्तनयों में किया गया है।

सप्त नयों में प्रत्येक दृष्टि जब तक अपने स्वरूप का प्रतिपादन करती है, तब तक वह सुनय कहलाती है, परन्तु जब वह अपने स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दूसरी दृष्टि का विरोध करती है, तब उसे दुर्नय कहा जाता है।

नयों का एक अन्य प्रकार से भी प्रतिपादन किया गया है—अभेदग्राही दृष्टि और भेदग्राही दृष्टि। अभेदग्राही दृष्टि द्रव्यप्रधान होती है और भेदग्राही दृष्टि पर्यायप्रधान होती है। इस दृष्टि से मूल में नय के दो भेद होते हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जितने भी प्रकार के नय हैं, उन सबका समावेश इन दो नयों में हो जाता है। इन दोनों में भेद इतना ही है कि सामान्य, अभेद एवं एकत्व को ग्रहण करने वाली दृष्टि द्रव्यार्थिक नय है। और विशेष, भेद तथा अनेकत्व को ग्रहण करने वाली दृष्टि पर्यायार्थिक नय है। पहली एकत्व को ग्रहण करती है, तो दूसरी अनेकत्व को।

एक दूसरे प्रकार से भी इन विषय पर विचार किया गया है। श्रुत के दो भेद हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण कहते हैं, क्योंकि इससे वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। विकलादेश को नय कहते हैं, क्योंकि इससे अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश का ही बोध होता है।

अभी तक मैंने आपको यह बतलाने का प्रयत्न किया कि नयवाद की पृष्ठभूमि क्या है और उसकी आवश्यकता क्यों है? यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि बिना नयवाद के वस्तु

के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। मुख्य प्रश्न यह है, कि नय क्या वस्तु है? उसका लक्षण क्या है? उसका स्वरूप क्या है? और उसकी परिभाषा क्या है? उक्त प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है कि प्रमाण से गृहीत अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी भी एक धर्म का मुख्य रूप से ज्ञान होना, नय है। नय की परिभाषा करते हुए यह भी कहा गया है, किसी भी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहा जाता है। किसी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मनुष्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। ये दृष्टिकोण ही नय हैं—यदि वे परस्पर सापेक्ष हैं, तो। विभिन्न विचारों के वर्गीकरण को भी नय कहा जाता है अथवा विचारों की मीमांसा को नय कह सकते हैं। एक विद्वान ने यह कहा है कि—परस्पर विरुद्ध विचारों में समन्वय स्थापित करने वाली दृष्टि को नय कहा जाता है।

नयों के स्वरूप के प्रतिपादन से पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है, कि नयों की सीमा और परिधि क्या है? नैगम नय का विषय सबसे अधिक विशाल है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष दोनों को ग्रहण करता है। संग्रहनय केवल सामान्य को ग्रहण करता है। अतः इसका विषय नैगम से कम है। व्यवहार नय का विषय संग्रह से भी कम है, क्योंकि यह संग्रहनय से संगृहीत वस्तुओं में व्यवहार के लिए भेद डालता है। ऋजुसूत्र नय भूतकाल और भविष्य काल को छोड़कर केवल वर्तमान काल की पर्याय को ही ग्रहण करता है। शब्द-नय वर्तमान काल में भी लिंग, संख्या और कारक आदि के कारण भेद डाल देता है। समभिरुद्ध नय व्युत्पत्तिभेद के कारण वाच्यभेद को स्वीकार करके चलता है। एवम्भूत नय उस-उस क्रिया में परिणत वस्तु को उस-उस रूप में ग्रहण करता है। यह है नयों की अपनी-अपनी सीमा और अपनी-अपनी परिधि। प्रत्येक नय अपनी ही परिधि में रहता है।

मैं आपसे नय के विषय में चर्चा कर रहा था। मैंने अभी आपसे यह कहा था, कि किसी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहते हैं। किसी एक वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न मनुष्यों के अथवा देश-काल-परिस्थिति आदि की अपेक्षा से एक व्यक्ति के भी अलग-अलग विचार हो सकते हैं। मनुष्य के विचार असीमित और अपरिमित होते हैं। उन सब का पृथक-पृथक प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है। अपने प्रयोजन के अनुसार अतिविस्तार और अतिसंक्षेप दोनों को छोड़कर मध्यम दृष्टि से ही नयों के द्वारा विचारों का प्रतिपादन किया जाता है।

नय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, कि जिससे श्रुत प्रमाण के द्वारा गृहीत पदार्थ का एक अंश जाना जाए, वक्ता के उस अभिप्राय-विशेष को नय कहते हैं। नय के निरूपण का अर्थ है—विचारों का वर्गीकरण। नयवाद का अर्थ है—विचारों की मीमांसा। वास्तव में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले, किन्तु यथार्थ में अविरोधी विचारों के मूल कारणों की खोज करना ही इसका मूल उद्देश्य है। इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि परस्पर विरुद्ध दीखने वाले विचारों के मूल कारणों का शोध करते हुए, उन सब का समन्वय करने वाला शास्त्र नयवाद है।

उदाहरण के लिए आत्मा को ही लीजिए। किसी का कहना है, कि आत्मा एक है, और किसी का कहना है कि आत्मा अनेक है। यहाँ पर आप देखते हैं कि एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं। नयवाद इस विवाद का समन्वय करता हुआ कहता है कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। द्रव्य-दृष्टि से आत्मा एक है और प्रदेश-दृष्टि से अथवा गुणपर्याय दृष्टि से एक आत्मा अनेक है। अथवा व्यक्ति की अपेक्षा आत्मा अनेक हैं और स्वरूप की दृष्टि से आत्मा एक है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में नित्यत्व और अनित्यत्व आदि अनेक विवाद हैं, जिनका वास्तविक समाधान नयवाद के द्वारा ही किया जा सकता है।

सामान्य रूप से मनुष्य की ज्ञान-वृत्ति अधूरी होती है। मनुष्य में अस्मिता एवं अभिनिवेश के कारण अपने को ही ठीक मानने की भावना बहुत अधिक होती है। इसका फल यह होता है, कि जब वह किसी विषय में किसी प्रकार का विचार करता है, तब अपने उस विचार को ही वह अन्तिम, पूर्ण तथा परम सत्य मान लेता है। इसका अर्थ यह होता है कि वह दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता। वह अपने अल्प तथा आंशिक ज्ञान को ही पूर्ण मान बैठता है। यही कारण है कि संसार में संघर्ष और विवाद खड़े हो जाते हैं। दर्शन के क्षेत्र में हम देखते हैं, कि एक दर्शन आत्मा आदि के विषय में अपने माने हुए पुरुष-विशेष के किसी एकदेशीय विचार को सर्वदेशीय सत्य मान लेता है। फिर उसके विरोधी प्रतिभासित होने वाले सत्य विचार को भी वह झूठा ही समझता है। इसी प्रकार दूसरा दर्शन पहले को और फिर दोनों मिल कर तीसरे को झूठा समझते हैं। फलस्वरूप समता के स्थान पर विषमता और विचार के स्थान पर विवाद खड़ा हो जाता है। विचारों की इस विषमता को दूर करने के लिए तथा परस्पर के विवाद को दूर करने के लिए भगवान महावीर ने नय-मार्ग प्रतिपादित किया है। नयवाद यह कहता है, कि प्रत्येक तथ्य को और प्रत्येक विचार को, अनेकान्त की तुल्य पर तोलना चाहिए।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि नय दर्शनशास्त्र का एक गम्भीर विषय है। इसे समझने के लिए समय भी चाहिए और बुद्धिबल भी चाहिए। मैं अधिक गहराई में न जाकर उसके स्वरूप का संक्षेप में ही प्रतिपादन कर रहा हूँ। संक्षेप में नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। संसार में छोटी-बड़ी सब वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं और एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। विश्व की प्रत्येक वस्तु में कुछ समानता भी है और कुछ भिन्नता भी है। इसी आधार पर जैन दर्शन में प्रत्येक वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक अथवा उभयात्मक कहा जाता है।

मानवी बुद्धि कभी वस्तु के सामान्य की ओर झुकती है, तो कभी विशेष की ओर। जब वह वस्तु के सामान्य अंश की ओर झुकती है, तब उसे द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और जब मनुष्य की बुद्धि वस्तु के विशेष धर्म की ओर झुकती है, तब उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद और पर्यायार्थिक नय के चार भेद होते हैं— इस प्रकार नय के सात भेद हैं।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के स्वरूप को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए, आप घूमने के लिए अपने घर से बाहर निकले, और घूमते-घूमते आप समुद्र की ओर जा पहुँचे। जिस समय आपने पहली बार समुद्र की ओर दृष्टिपात किया, तब केवल आपने सागर के जल को ही देखा। उस समय आपने न उसका स्वाद लिया, न उसका रंग देखा और न उसके अन्य विशेष धर्मों को ही आप जान पाए। केवल आपने सामान्य रूप में समुद्र के जल को ही देखा। इसको सामान्य दृष्टि कहा जाता है। इसके बाद आप समुद्र के तट पर पहुँच गए। वहाँ पर आपने सागर के जल के रंग को देखा, उसमें प्रतिक्षण उठने वाली तरंगों को देखा, उसके जल को पीकर उसका स्वाद भी चखा, उसकी एक-एक विशेषता को जानने का आपने प्रयत्न किया, इसको विशेष दृष्टि कहते हैं।

लोक में जिसे सामान्य दृष्टि कहा जाता है, वस्तुतः वही द्रव्यार्थिक नय है। लोक में जिसे विशेष दृष्टि कहा जाता है, वस्तुतः वही पर्यायार्थिक नय है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि प्रमाण से परिज्ञात अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से जानने वाला ज्ञान, नय है। उक्त दो नयों के ही विस्तार दृष्टि से सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत। उक्त सात नयों की संक्षेप में चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ। अब यहाँ कुछ और अधिक स्पष्टीकरण के साथ आपको परिचय दे रहा हूँ, जिससे आप भली-भाँति नय के स्वरूप को समझ सकें। एक बात आप और समझ लें, और वह यह है, कि जैन ग्रन्थों में नय का वर्णन दो प्रकार से किया गया है—दार्शनिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से।

दार्शनिक दृष्टि से नय का वर्णन इस प्रकार है:

सात नयों में पहला नय है—नैगम। निगम शब्द का अर्थ है—जनपद अथवा देश। जिस जनपद की जनता में जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है, वहाँ पर उस अर्थ और शब्द के सम्बन्ध को जानना ही नैगम नय है। इस शब्द का वाच्य यह अर्थ है और इस अर्थ का वाचक यह शब्द है, इस प्रकार वाच्य-वाचक भाव के सम्बन्ध-ज्ञान को नैगम नय कहते हैं। जो अनेक अर्थों से वस्तु को जानता है अथवा अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है, उसे नैगम नय कहते हैं। निगम का अर्थ—संकल्प भी है। जो निगम (संकल्प) को विषय करे, वह नैगम नय कहा जाता है।

उदाहरण के लिए समझिए कि एक व्यक्ति बैठा हुआ है और बातचीत के प्रसंग में वह कहता है, कि “मैं दिल्ली जा रहा हूँ।” यद्यपि अभी उसने गमन-क्रिया प्रारम्भ नहीं की है, मात्र जाने का संकल्प ही किया है, फिर भी वह कहता है, कि मैं दिल्ली जा रहा हूँ। इसी आधार पर नैगम नय को संकल्प मात्र ग्राही कहा गया है। शब्दों के जितने और जैसे अर्थ लोक में माने जाते हैं, उनको मानने की दृष्टि नैगम नय है।

नैगमनय पदार्थ को सामान्य, विशेष और उभयात्मक मानता है, नैगमनय तीनों और चारों निक्षेपों को मानता है, तथा नैगमनय धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है। इसी आधार पर दर्शन ग्रन्थों में नैगमनय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि दो पर्यायों की, दो द्रव्यों की तथा द्रव्य और पर्याय की प्रधान एवं गौण भाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगमनय कहते हैं।

नैगमनय के दो भेद हैं—सर्वग्राही और देशग्राही। क्योंकि शब्द का प्रयोग दो ही प्रकार से हो सकता है—एक सामान्य अंश की अपेक्षा से और दूसरा विशेष अंश की अपेक्षा से। सामान्य अंश का आधार लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को सर्वग्राही नैगमनय कहते हैं। विशेष अंश का आश्रय लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को देश-ग्राही नैगमनय कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम यह कहते हैं कि 'यह घड़ा है' यहाँ पर यह विवक्षा नहीं की जाती कि 'यह घड़ा' चाँदी का है, सोने का है अथवा पीतल का है अथवा वह सफेद है या काला है, तो यह सर्वग्राही सामान्य दृष्टि है। किन्तु जब यह कहा जाता है, कि 'यह चाँदी का घट है, यह सोने का घट है और यह पीतल का घट है, अथवा यह सफेद है या काला है,' तो यह कथन पूर्व की अपेक्षा विशेषग्राही हो जाता है। जब दृष्टि विशेष की ओर न जाकर सामान्य तक ही रहती है, तब उसे सर्वग्राही नैगम नय कहा जाता है। इसके विपरीत जब दृष्टि विशेष की ओर जाती है, तब उसे देशग्राही नैगम-नय कहा जाता है।

एक दूसरे प्रकार से नैगमनय के तीन भेद किए गए हैं—भूत नैगमनय, भावी नैगमनय और वर्तमान नैगमनय। अतीत काल का वर्तमान काल में संकल्प भूत नैगमनय है। जैसे यह कहना कि आज 'महावीर जयन्ती है।' यहाँ आज का अर्थ है—वर्तमान दिवस, लेकिन उसमें संकल्प हजारों वर्ष पहले के दिन का किया गया है। भविष्य का वर्तमान में संकल्प करना भावी नैगमनय है। जैसे अरिहन्त को सिद्ध कहना। यहाँ पर भविष्य में होने वाली सिद्ध पर्याय को वर्तमान में कह दिया गया है। किसी कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया हो, परन्तु वह अभी तक पूर्ण नहीं हुआ हो, फिर भी उसे पूर्ण कह देना, वर्तमान नैगमनय है। जैसे यह कहना कि 'आज तो भात बनाया है।' यद्यपि भात बना नहीं है, फिर भी उसे बना हुआ कहना। इस प्रकार नैगम नय के विविध रूपों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है।

सात नयों में दूसरा नय है—संग्रह। वस्तु के विशेष से रहित द्रव्यत्व आदि सामान्यमात्र को ग्रहण करने वाला विचार संग्रह नय है। जैसे कि जीव कहने से नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव और सिद्ध सब का ग्रहण हो जाता है। संग्रहनय एक शब्द के द्वारा अनेक पदार्थों को भी ग्रहण करता है। अथवा एक अंश या अवयव का नाम लेने से समग्र गुण और पर्याय से सहित वस्तु को ग्रहण करने वाला विचार संग्रह नय है। जैसे किसी सेठ ने अपने सेवक को आदेश दिया कि 'दातुन लाओ'। दातुन शब्द को सुनकर वह सेवक अपने स्वामी को केवल दातुन ही नहीं देता, बल्कि साथ में जीभी, पानी का लोटा और हाथ पोंछने के लिए



तौलिया भी प्रस्तुत कर देता है। यहाँ पर 'दातुन' इतना ही कहने से समग्र सामग्री का संग्रह हो गया है।

संग्रह नय के दो भेद हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह। सत्ता मात्र अर्थात् द्रव्यमात्र को ग्रहण करने वाला नय पर संग्रह नय कहलाता है, क्योंकि यह नय सत् या द्रव्य कहने से जीव और अजीव के विशेष भेदों को न मानकर केवल द्रव्य मात्र का ग्रहण करता है। जीव और अजीव आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाला और उनके भेदों की उपेक्षा करने वाला—अपर संग्रह नय है। जैसे जीव कहने से सब जीवों का ग्रहण तो हुआ, किन्तु अजीव द्रव्यों का ग्रहण नहीं हो सका। अजीव कहने से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल आदि का तो ग्रहण हो जाता है, परन्तु जीव का ग्रहण नहीं होता। संग्रह नय का अर्थ है—संग्रह करने वाला विचार। अतः इसके अपर संग्रह में भी भेद की नहीं, अभेद की ही प्रधानता रहती है।

सात नयों में तीसरा नय है—व्यवहार। लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले विचार को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जो सत् है, वह द्रव्य है अथवा पर्याय। जो द्रव्य है उसके जीव आदि छह भेद हैं। जो पर्याय है उसके दो भेद हैं—सहभावी और क्रमभावी। इसी प्रकार जो जीव है उसके अनेक भेद हैं। जैसे संसारी और मुक्त आदि-आदि। सब द्रव्यों और उनके विषय में सदा भेदानुसारी वचन-प्रवृत्ति करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं।

यह नय सामान्य को नहीं मानता, केवल विशेष को ही ग्रहण करता है, क्योंकि लोक में घट आदि विशेष पदार्थ ही जल-धारण आदि क्रियाओं के योग्य देखे जाते हैं। केवल सामान्य नहीं। रोगी को औषधि दो, इतना कहने से समाधान नहीं है। समाधान के लिए आवश्यक है कि औषधि का विशेष नाम बताया जाय कि अमुक औषधि दो। यद्यपि निश्चय नय की अपेक्षा से घट में पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श होते हैं, किन्तु साधारण लोग उस घट को लाल, काला या पीला ही कहते हैं। व्यवहार नय से कोयल काली है, परन्तु निश्चय नय से उसमें पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श पाए जाते हैं। व्यवहार नय में उपचार होता है। बिना उपचार के व्यवहार नय का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

व्यवहार नय के दो भेद हैं—सामान्य भेदक और विशेष भेदक। सामान्य संग्रह में दो भेद करने वाले नय को सामान्य भेदक व्यवहार नय कहते हैं, जैसे द्रव्य के दो भेद हैं—जीव और अजीव। विशेष संग्रह में अनेक भेद करने वाला विशेष भेदक व्यवहार नय कहलाता है। जैसे जीव के चार भेद—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

सात नयों में चतुर्थ नय है—ऋजुसूत्र। वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। जैसे 'मैं सुखी हूँ।' यहाँ पर सुख पर्याय वर्तमान समय में है। ऋजु-सूत्र नय वर्तमान क्षणस्थायी सुख पर्याय को प्रधान रूप से विषय

करता है, परन्तु सुख पर्याय की आधारभूत आत्मा को गौण रूप से मानता है। ऋजुसूत्र नय भूत और भविष्य काल की पर्याय को नहीं मानता, केवल वर्तमान पर्याय को ही स्वीकार करता है। ऋजुसूत्र की दृष्टि में वर्तमान का धन ही धन है और वर्तमान का सुख ही सुख है, भूत और भविष्य के धनादि वर्तमान में अनुपयोगी हैं।

ऋजुसूत्र नय के दो भेद हैं—सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र। जो एक समय मात्र की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र कहते हैं। जो अनेक समयों की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, उसे स्थूल ऋजुसूत्र कहते हैं।

सप्त नयों में पाँचवाँ नय है—शब्द। काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ-भेद का प्रतिपादन करने वाले नय को शब्द नय कहते हैं, जैसे, मेरु था, मेरु है और मेरु होगा। उक्त उदाहरण में शब्द नय भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल के भेद से मेरु पर्वत के भी तीन भेद मानता है। वर्तमान का मेरु और है, भूत का और था, एवं भविष्यत् का कोई और ही होगा। काल पर्याय की दृष्टि से यह सब भेद हैं। इसी प्रकार घट को करता है और घट किया जाता है। यहाँ कारक के भेद से शब्द नय घट में भेद करता है। लिङ्ग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से भी शब्द नय भेद को स्वीकार करता है। शब्द नय ऋजुसूत्र नय के द्वारा गृहीत वर्तमान को भी लिंग आदि के कारण विशेष रूप से मानता है। जैसे 'तटः तटी, तटम्'—इन तीनों के अर्थों को लिंग भेद से शब्दनय भिन्न-भिन्न मानता है, जब कि मूल में तट शब्द एक ही है। यह शब्द नय की एक विशेषता है।

सात नयों में छठा नय है—समभिरूढ़। पर्यायवाची शब्दों में भी निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ को मानने वाले नय को समभिरूढ़ नय कहते हैं। यह नय कहता है, कि जहाँ शब्द-भेद है, वहाँ अर्थ-भेद अवश्य ही होगा। शब्दनय तो अर्थ-भेद वहीं मानता है, जहाँ लिङ्ग आदि का भेद होता है, परन्तु समभिरूढ़ नय की दृष्टि में तो प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग ही होता है, भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों और उनमें लिंग, संख्या एवं काल आदि का भेद न भी हो। जैसे इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं, अतः शब्द नय की दृष्टि से इनका एक ही अर्थ है—इन्द्र। परन्तु समभिरूढ़ नय के मत में इनके अर्थ में अन्तर है। 'इन्द्र' शब्द से ऐश्वर्यशाली का बोध होता है, जबकि 'पुरन्दर' से नगर के विनाशक का बोध होता है। यहाँ दोनों का एक ही व्यक्ति आधार होने से, दोनों शब्द पर्यायवाची बताए गए हैं, किन्तु इनका अर्थ भिन्न-भिन्न ही है। समभिरूढ़ नय शब्दों के प्रचलित रूढ़ अर्थ को नहीं, किन्तु उनके मूल उत्पत्ति अर्थ को पकड़ता है। अतः शब्द नय इन्द्र, और पुरन्दर—इन दोनों शब्दों का एक ही वाच्य मानता है, परन्तु समभिरूढ़ नय की दृष्टि से इन दोनों के दो भिन्न-भिन्न वाच्य हैं, क्योंकि इन दोनों की प्रवृत्ति के निमित्त भिन्न-भिन्न हैं।

सात नयों में सातवाँ नय है—एवम्भूत। एवम्भूत नय निश्चय प्रधान होता है, इसलिए यह किसी भी पदार्थ को, तभी पदार्थ स्वीकार करता है, जबकि वह पदार्थ वर्तमान में

क्रिया से परिणत हो। अतः एवम्भूत नय के सम्बन्ध में यह कहा जाता है, कि शब्दों की स्वप्रवृत्ति के निमित्तभूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही शब्दों का वाच्य मानने वाला विचार एवम्भूत नय है। समभिरूढ़ नय इन्दन आदि के होने या न होने पर भी इन्द्र आदि शब्दों का वाच्य मान लेता है, क्योंकि वे शब्द अपने वाच्यों के लिए रूढ़ हो चुके हैं। परन्तु एवम्भूत नय, इन्द्र आदि को इन्द्र आदि शब्दों का वाच्य तभी मानता है, जबकि वह इन्दन आदि क्रियाओं में वर्तमान में परिणत हो। एवम्भूत नय इन्दन क्रिया का अनुभव करते समय ही इन्द्र को इन्द्र का वाच्य मानता है, अन्यथा नहीं। एवम्भूत नय के मत से इन्द्र तभी इन्द्र है, जबकि वह ऐश्वर्यशाली हो।

यहाँ तक नयों पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। अब आध्यात्मिक दृष्टि से भी नयों पर विचार कर लेना चाहिए। जैन दर्शन के अनेक ग्रंथों में आध्यात्मिक दृष्टि से भी नयों पर विचार किया गया है। मैं आपको यहाँ पर संक्षेप में यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि आध्यात्मिक दृष्टि से नय के स्वरूप का प्रतिपादन किस प्रकार किया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। व्यवहार नय को उपनय भी कहा गया है। जो नय वस्तु के मूल स्वरूप को बतलाता है, उसे निश्चय नय कहा जाता है। जो नय दूसरे पदार्थों के निमित्त से वस्तु के स्वरूप को अन्यथा बतलाता है, उसे व्यवहार नय कहा जाता है। यद्यपि व्यवहार नय वस्तु के स्वरूप को दूसरे रूप में बतलाता है, तथापि वह मिथ्या नहीं है। क्योंकि जिस अपेक्षा से अथवा जिस रूप में वह वस्तु को विषय करता है, वह वस्तु उस रूप में उपलब्ध भी होती है। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं—‘घी का घड़ा।’ इस वाक्य से वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान तो नहीं होता, यह तो नहीं मालूम पड़ता कि घड़ा मिट्टी का है, पीतल का है, अथवा अन्य किसी धातु का है। इसलिए इसे निश्चय नय नहीं कह सकते। लेकिन उक्त वाक्य से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि उस घड़े में ‘घी’ रखा जाता है। जिसमें घी रखा जाता हो, उस घड़े को व्यवहार नय में घी का घड़ा कहते हैं। उक्त कथन व्यवहार नय से सत्य है और इसी आधार पर व्यवहार नय भी सत्यरूप है, मिथ्यारूप नहीं। व्यवहार नय मिथ्या तभी हो सकता है, जबकि उसका विषय निश्चय का विषय मान लिया जाए। यदि आप ‘घी का घड़ा’—इसका अर्थ यह समझें कि घड़ा घी का बना हुआ है, तो लोक में कहीं पर भी यह बात सत्य प्रमाणित नहीं हो सकती, क्योंकि कहीं पर भी घड़ा घी से बनता नहीं है, बल्कि घड़ा घी का आधार मात्र ही रहता है। जब तक व्यवहार नय अपने व्यावहारिक सत्य पर स्थिर है, तब तक उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

निश्चय नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तु के सामान्य धर्म को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत। इस

प्रकार यह वर्गीकरण आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। इसके भेद और उपभेद में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय नय का स्वरूप मैंने आपको बतलाया। अब आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार नय का स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। व्यवहार नय का लक्षण आपको बताया जा चुका है। व्यवहार नय के दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। एक वस्तु में गुणगुणी के भेद से भेद को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी दो भेद हैं—उपचरित सद्भूत व्यवहार नय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय। सोपाधिक गुण एवं गुणी में भेद ग्रहण करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। निरुपाधिक गुण एवं गुणी में भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव का मति-ज्ञान तथा श्रुतज्ञान इत्यादि लोक में व्यवहार होता है। इस व्यवहार में उपाधिरूप ज्ञानावरण कर्म के आवरण से कलुषित आत्मा का मलसहित ज्ञान होने से जीव के मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान सोपाधिक हैं, अतः यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद को ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। उपाधिरहित गुण के साथ जब उपाधिरहित आत्मा का सम्बन्ध बताया जाता है, तब निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद से अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय सिद्ध होता है। जैसे केवलज्ञानरूप निरुपाधिक गुण से सहित निरुपाधिक केवलज्ञानी की आत्मा। केवलज्ञान आत्मा का सर्वथा निरावरण शुद्ध ज्ञान है, अतः वह उपाधिरहित होने से निरुपाधिक है। इसलिए वीतराग आत्मा का केवलज्ञान, यह प्रयोग निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद का है।

असद्भूत व्यवहार नय के भी दो भेद हैं—उपचरित असद्भूत व्यवहार, और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार। सम्बन्ध से रहित वस्तु में सम्बन्ध को ही विषय करने वाला नय उपचरित असद्भूत कहा जाता है, क्योंकि सम्बन्ध का योग न होने पर भी कल्पित सम्बन्ध मानने पर उपचरित असद्भूत व्यवहार होता है। जैसे 'देवदत्त का धन।' यहाँ पर देवदत्त का धन के साथ सम्बन्ध माना गया है, परन्तु वास्तव में वह कल्पित होने से उपचरित है, क्योंकि देवदत्त और धन—वास्तव में दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं, एक द्रव्य नहीं हैं। इसलिए भिन्न द्रव्य होने से देवदत्त तथा धन में यथार्थ सम्बन्ध नहीं है, उपचरित है। अतः असद्भूत एवं उपचरित होने के कारण इसे उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। सम्बन्ध से सहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला नय अनुपचरित असद्भूत नय कहा जाता है। इस प्रकार का भेद वहाँ होता है, जहाँ कर्म जनित सम्बन्ध होता है। जैसे जीव का शरीर। यहाँ पर आत्मा और शरीर का सम्बन्ध देवदत्त और उसके धन के समान कल्पित नहीं है, किन्तु जीवन पर्यन्त स्थायी होने से अनुपचरित है। जीव और शरीर के भिन्न होने से वह असद्भूत व्यवहार भी है। इस प्रकार संक्षेप में आध्यात्मिक दृष्टि से यह व्यवहार नय का वर्णन किया गया है।

अब नय के सम्बन्ध में एक प्रश्न और खड़ा होता है, कि वस्तुतः नयों की संख्या कितनी है? नयों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों का एक मत नहीं है। नयों के अगणित एवं असंख्यात भेद हैं, फिर भी अतिविस्तार तथा अति संक्षेप को छोड़कर नयों के प्रतिपादन में मध्यम मार्ग को ही अपनाया गया है। नयों के सम्बन्ध में एक बात कही जाती है, कि जितने प्रकार के वचन हैं, उतने ही प्रकार के नय हैं। इस पर से दो तथ्य फलित होते हैं—नयों की संख्या स्थिर नहीं है और नयों का वचन के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है, फिर भी यहाँ पर इतना बतला देना आवश्यक है कि स्थानांग सूत्र में और अनुयोगद्वार सूत्र में सात नयों का स्पष्ट उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा में भी उक्त सात नय माने गये हैं। किन्तु वाचक उमास्वाति प्रणीत 'तत्त्वार्थ सूत्र' में मूलरूप में पाँच नयों का उल्लेख है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। शब्द नय के तीन भेद किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ 'सन्मति प्रकरण' में नयों की संख्या और उनके वर्गीकरण में एक नयी शैली को अपनाया है। वे नैगम नय को छोड़कर शेष छह भेदों को मानते हैं। इनसे पूर्व कहीं भी यह शैली और यह पद्धति देखने को नहीं मिलती है। यह एक तर्क-पूर्ण दार्शनिक शैली है। वादिदेवसूरि ने स्वप्रणीत 'प्रमाणनय-तत्त्वालोक' ग्रन्थ में आगम परम्परा के अनुसार नैगम से लेकर एवम्भूत तक के सात नयों को ही स्वीकार किया है। इस प्रकार नयों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न विचार अभिव्यक्त किए हैं, किन्तु मूल विचार सबका एक ही है।

नयों की संख्या पर विचार करने के बाद, नयों के वर्गीकरण का प्रश्न सामने आता है। नयों का वर्गीकरण विविध प्रकार से और विभिन्न शैली से किया गया है। सबसे पहला वर्गीकरण यह है कि नय के दो भेद हैं—अर्थ-नय और शब्द-नय। जिस विचार में शब्द की गौणता और अर्थ की मुख्यता रहती है, वह अर्थ-नय कहा जाता है। जिस विचार में अर्थ की गौणता और शब्द की मुख्यता रहती है, वह शब्द-नय है। इस वर्गीकरण के अनुसार नैगम से ऋजुसूत्र तक के नय, अर्थ-नय हैं, और शब्द से एवम्भूत तक के नय, शब्द नय हैं। एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार नय के दो भेद हैं—ज्ञान-नय और क्रिया-नय। किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का परिबोध करना, ज्ञान-नय है। ज्ञान-नय से प्राप्त बोध को जीवन में धारण करने का प्रयत्न करना, क्रिया-नय है। तीसरे प्रकार का वर्गीकरण इस प्रकार से है कि नय के दो भेद हैं—द्रव्य-नय और भाव-नय। शब्द-प्रधान अथवा वचनात्मक नय को द्रव्य नय कहा जाता है, और ज्ञानप्रधान अथवा ज्ञानात्मक नय को भाव-नय कहा जाता है। चतुर्थ प्रकार का वर्गीकरण भी है। इसके अनुसार नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। जो नय वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बतलाए, वह निश्चय नय कहा जाता है। जो नय अन्य पदार्थ के निमित्त से वस्तु का अन्य रूप बतलाए, वह व्यवहार-नय कहा जाता है। एक पाँचवें प्रकार का भी नय का वर्गीकरण किया गया है—सुनय और दुर्नय। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने वाला और इतर धर्मों का निषेध

न करके उदासीन रहने वाला नय सुनय कहा जाता है। जो इतर धर्मों का निषेध करता है, वह दुर्नय है।

नयों के वर्गीकरण के बाद एक प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि नयों की परिधि एवं परिसीमा क्या है? इसके सम्बन्ध में मैं आपको पहले बतला चुका हूँ कि किस नय की क्या परिधि है और क्या परिसीमा है। सबसे अधिक विशाल एवं व्यापक विषय नैगम नय का है, एवं सबसे थोड़ा विषय एवम्भूत नय का है। नयों के सम्बन्ध में मूल आगमों से लेकर और अद्यावधि तक के ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु यहाँ पर मैंने नयों का तथा नयों से सम्बद्ध कुछ अन्य विषयों का संक्षेप में ही परिचय कराया है।

एक बात अवश्य है, कि जब तक नयवाद को नहीं समझा जाएगा, तब तक जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त को भी नहीं समझा जा सकता। किसी भी व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझे बिना उसके विषय में किसी प्रकार का निर्णय करना न उचित है और न न्यायसंगत। नयवाद और अनेकान्तवाद हमें यही सिखाता है, कि हम सत्य-दृष्टि को किस प्रकार ग्रहण करें। किसी एक दृष्टि से सत्य को समझा नहीं जा सकता। एकाङ्गी दृष्टि वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ है। वस्तुतः अनेकाङ्गी दृष्टि ही सत्य के स्वरूप को समझ सकती है। नय-ज्ञान का उद्देश्य यही है कि हम अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को नयवाद के द्वारा ही भली भाँति समझ सकते हैं। अपने विचारों का अनाग्रह ही वस्तुतः अनेकान्त है और उस अनेकान्त की आधार-शिला है—नयवाद एवं अपेक्षावाद।



## ४. निक्षेप-सिद्धान्त

मनुष्य अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के अथवा बिना शब्द-प्रयोग के वह अपने विचारों की अच्छी तरह अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। पशु की अपेक्षा मनुष्य की यह विशेषता है, कि वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से भली भाँति कर लेता है। यह एक सत्य है, कि जगत का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के चल नहीं सकता। अतः परस्पर के व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए भाषा का सहारा और शब्द-प्रयोग का माध्यम मनुष्य को पकड़ना पड़ता है।

संसार में हजारों-हजार प्रकार की भाषाएँ हैं और उन भाषाओं के शब्द हजारों ही प्रकार के हैं। प्रत्येक भाषा के शब्द अलग-अलग ही होते हैं। भाषा के ज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान आवश्यक है और शब्द-ज्ञान के लिए भाषा-ज्ञान आवश्यक है। भाषा अवयवी है और शब्द उसके अवयव हैं। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार अवयवी के ज्ञान के लिए अवयव का ज्ञान परमावश्यक है। भाषा-ज्ञान के लिए शब्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

हम किसी भी भाषा का उचित प्रयोग तभी कर सकेंगे, जबकि उसके शब्दों का उचित प्रयोग करना हम सीख लेंगे। किस समय पर और किस स्थिति में किस शब्द का प्रयोग कैसे किया जाता है और वक्ता के अभिप्राय को कैसे समझा जाता है? यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है।

शब्द प्रयोग के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को ठीक रूप से समझ लेना, जैनदर्शन में इसको निक्षेपवाद कहा जाता है। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। निक्षेप और न्यास के सिद्धान्त को समझने के लिए भाषा के शब्दों को और उन शब्दों के अर्थों को ठीक रूप में समझना आवश्यक है। जैन-दर्शन के अनुसार निक्षेप का लक्षण यह है कि, शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में आरोप करना अर्थात् न्यास करना।

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात। घट, पट आदि नाम शब्द हैं। पठति, गच्छति आदि आख्यात अर्थात् क्रिया-शब्द हैं। प्र, परा, उप आदि उपसर्ग एवं निपात शब्द हैं। इन चार प्रकार के शब्दों में निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम से है। अन्य शब्दों के साथ निक्षेप का सम्बन्ध नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में कहा गया है, कि आख्यात शब्द, उपसर्ग शब्द और

निपात शब्द वस्तु-वाचक नहीं होते हैं। निक्षेप का सम्बन्ध उसी शब्द से रहता है, जो वस्तु-वाचक होता है। व्याकरण के अनुसार वस्तु-वाचक शब्द नाम ही होता है। अतः उक्त चार प्रकार के शब्दों में से निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम के साथ ही रहता है।

निक्षेप-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ अवश्य ही होते हैं। वैसे एक शब्द के अधिक अर्थ भी हो सकते हैं और होते भी हैं, किन्तु यहाँ पर निक्षेप का वर्णन अभीष्ट है, अतः शब्दकोष के अनुसार शब्द का अर्थ ग्रहण न करके यहाँ पर केवल निक्षेप-सिद्धान्त के अनुसार ही शब्द का अर्थ ग्रहण करना है।

एक बड़ा ही महत्व का प्रश्न यह है, कि निक्षेप के सिद्धान्त का उद्देश्य क्या है और उसका जीवन में क्या उपयोग है? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि निक्षेप-सिद्धान्त का प्रयोजन एवं उपयोग यही है, कि अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ को बतलाना। उदाहरण के लिए, किसी ने कहा कि “गुरु तो मेरे हृदय में हैं।” यहाँ पर गुरु शब्द का अर्थ गुरु व्यक्ति का ज्ञान लेना होगा, क्योंकि शरीर-संयुक्त गुरु किसी के हृदय में कैसे रह सकता है? अतः उक्त वाक्य में गुरु का ज्ञान, यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वयं गुरु व्यक्ति। इस आधार पर यह कहा जाता है, निक्षेप का सबसे बड़ा उपयोग यह है, कि वह अप्रस्तुत अर्थ को दूर करके प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान हमें करा देता है। निक्षेप की उपयोगिता केवल शास्त्रों में ही नहीं, बल्कि मनुष्य के दैनिक व्यवहार में भी रहती है। बिना निक्षेप के मनुष्य का दैनिक व्यवहार भी सुचारु रूप से चल नहीं सकता है।

संसार के जीवों का समग्र व्यवहार पदार्थ के आश्रित रहता है। पदार्थ एक नहीं, अनन्त हैं। उन समग्र पदार्थों का व्यवहार एक साथ नहीं हो सकता। यथावसर प्रयोजन-वशात् अमुक किसी एक पदार्थ का ही व्यवहार होता है, अतः जिस उपयोगी पदार्थ का ज्ञान हमें करना चाहते हैं, उसका ज्ञान शब्द के आधार से ही किया जा सकता है। किन्तु किस शब्द का क्या अर्थ है, यह कैसे जाना जाए? वस्तुतः इसी प्रश्न का समाधान निक्षेप-सिद्धान्त है। व्याकरण के अनुसार शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होते हैं। शब्द को अर्थ की अपेक्षा रहती है और अर्थ को शब्द की अपेक्षा रहती है। यद्यपि शब्द और अर्थ दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं, फिर भी उन दोनों में एक प्रकार का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध को वाच्य-वाचक-सम्बन्ध कहा जाता है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही शब्द का उचित प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से निक्षेप का सिद्धान्त एक वह सिद्धान्त है, जिससे शब्द के अर्थ को समझने की कला का परिज्ञान होता है।

प्रश्न यह है कि निक्षेप के कितने प्रकार हैं? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि, किसी भी वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हो सकते हैं, उतने ही निक्षेप होते हैं। परन्तु कम से कम चार निक्षेप माने गए हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

किसी वस्तु का अपनी इच्छा के अनुसार नाम रख देना—नाम-निक्षेप है। जैसे किसी मनुष्य का नाम उसके माता-पिता ने ‘महावीर’ रख दिया। यहाँ पर महावीर शब्द का जो



अर्थ है, वह अपेक्षित नहीं है, बल्कि एक संज्ञामात्र ही है। नामनिक्षेप में जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि यह नाम तो केवल लोक-व्यवहार चलाने के लिए ही होता है। नामकरण संकेत मात्र से किया जाता है। यदि नाम के अनुसार उसमें गुण भी हों, तब वह नामनिक्षेप न कहलाकर भावनिक्षेप कहलाएगा। भाव-निक्षेप उसी को कहा जाता है, जिसमें तदनुकूल गुण भी विद्यमान हों।

किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु में यह परिकल्पना करना कि यह वह है, स्थापना निक्षेप कहा जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जो अर्थ तद्रूप नहीं है, उसे तद्रूप मान लेना ही स्थापना-निक्षेप है। स्थापना-निक्षेप के दो भेद हैं—तदाकार-स्थापना और अतदाकार-स्थापना। किसी मूर्ति अथवा किसी चित्र में व्यक्ति के आकारानुरूप स्थापना करना, तदाकार-स्थापना है, तथा शतरंज आदि के मोहरों में अश्व, गज आदि की जो अपने आकार से रहित कल्पना की आती है, उसे अतदाकार स्थापना कहा जाता है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, कि नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं।

अतीत अवस्था, अनागत अवस्था और अनुयोग-दशा—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते। इसी कारण इन्हें द्रव्य-निक्षेप कहा जाता है। जैसे जब कोई कहता है, कि 'राजा तो मेरे हृदय में है।' तब उसका अर्थ होता है— राजा का ज्ञान मेरे हृदय में है। क्योंकि शरीरधारी राजा का कभी किसी के हृदय में रहना सम्भव नहीं है। यह अनुयोग दशा है। द्रव्य-निक्षेप के अन्य दो उदाहरण हैं, कि जो पहले कभी राजा रहा है, किन्तु वर्तमान में राजा नहीं है, उसे राजा कहना अतीत द्रव्य निक्षेप है। वर्तमान में जो राजा नहीं है, किन्तु भविष्य में जो राजा बनेगा उसे वर्तमान में राजा कहना, अनागत द्रव्य निक्षेप है। उक्त द्रव्य-निक्षेप का अर्थ है—जो अवस्था अतीत काल में हो चुकी हो अथवा भविष्य काल में होने वाली हो, उसका वर्तमान में कथन करना।

वर्तमान पर्याय-सहित द्रव्य को भाव-निक्षेप कहते हैं। जैसे राज्य सिंहासन पर स्थित व्यक्ति को राजा कहना। भाव-निक्षेप की दृष्टि में राजा वही व्यक्ति हो सकता है, जो वर्तमान में राज्य कर रहा हो। इसके विपरीत जो व्यक्ति पहले राज्य कर चुका है अथवा भविष्य में राज्य करेगा, किन्तु वर्तमान में वह राज्य नहीं कर रहा है, तो भावनिक्षेप उसे राजा नहीं मानता। निक्षेप के अनुसार राजा शब्द के चार अर्थ हुए—नाम-राजा, स्थापना-राजा, द्रव्य-राजा और भाव-राजा।

किसी व्यक्ति का नाम राजा रख देना नामराजा है। किसी राजा के चित्र को राजा कहना अथवा किसी भी पदार्थ में यह राजा है इस प्रकार की परिकल्पना करना, यह स्थापना राजा है। द्रव्य राजा उसे कहा जाता है, जो वर्तमान में तो राजा नहीं है, किन्तु अतीत में रह चुका है अथवा भविष्य में राजा बनेगा। भाव-राजा वह है, जो वर्तमान में राज्य पद पर स्थित है और राज्य का संचालन कर रहा है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है, कि नाम निक्षेप में और स्थापना निक्षेप में क्या अन्तर है? क्योंकि नाम-निक्षेप में किसी व्यक्ति का कुछ भी नाम रख दिया जाता है और स्थापना निक्षेप में भी मूर्ति अथवा चित्र आदि में नाम रख दिया जाता है? इसके समाधान में कहा गया है कि नाम और स्थापना में इतना ही भेद है, कि नाम-निक्षेप में आदर और अनादर-बुद्धि नहीं रहती, जबकि स्थापना निक्षेप में आदर और अनादर बुद्धि की जा सकती है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति किसी नदी में से गोल पत्थर उठा लाया और उसने उसमें शालिग्राम की स्थापना करली, उस स्थिति में वह व्यक्ति उसमें आदर-बुद्धि भी रखता है।

इस प्रकार आपने देखा निक्षेप-सिद्धान्त के द्वारा किस प्रकार जीवन की समस्याओं का समाधान किया जाता है। शास्त्रीय रहस्य को समझने के लिए ही निक्षेप की आवश्यकता नहीं है, बल्कि लोकव्यवहार की उलझनों को सुलझाने के लिए भी निक्षेप की आवश्यकता रहती है। अतः निक्षेप का परिज्ञान परम आवश्यक है।

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है, कि नय और निक्षेप में क्या भेद है? इसके उत्तर में कहा गया है कि नय और निक्षेप में विषय और विषयी-भाव सम्बन्ध है। नय ज्ञानात्मक है और निक्षेप ज्ञेयात्मक। निक्षेप को जानने वाला नय है। शब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, उसके स्थापना की क्रिया का नाम निक्षेप है और वह नय का विषय है, तथा नय उसका विषयी है। आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और अन्तिम भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। यहाँ पर मैंने संक्षेप में ही निक्षेप का वर्णन किया है, वैसे निक्षेप का विषय बहुत ही गम्भीर है।



## ५. ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का एक निज गुण है। ज्ञान आत्मा का एक स्वभाव है। निज गुण अथवा स्वभाव उसे कहा जाता है, जो सदाकाल अपने गुणी के साथ रहता है। आत्मा को छोड़कर ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं रहता और आत्मा भी ज्ञान से शून्य कभी नहीं रहता। इस आधार पर यह कहा जाता है कि आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। आत्म-स्वरूप की जितनी भी चर्चा और वर्णन किया जाता है, उसका मूल केन्द्र ज्ञान है। आत्मा क्या है और उसका क्या स्वरूप है? उक्त प्रश्नों का समाधान ज्ञान से ही होता है। चेतना आत्मा की एक शक्ति है, जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में उपलब्ध नहीं होती। आत्मा की स्थिति और सत्ता अनन्तकाल से है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। आत्मा अनन्त गुणों का निधि है, उसमें प्रमेयत्व एवं ज्ञेयत्व आदि सामान्य एवं विशेष अनन्त गुण हैं। उन सबकी जानकारी एवं उन सब गुणों का पता ज्ञान के द्वारा ही लगता है। अतः ज्ञान आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। विशिष्ट गुण भी क्या है? वह उसका स्व-स्वरूप और निज स्वभाव ही है।

अब प्रश्न यह उठता है, कि आत्मा का जो यह ज्ञान गुण है, जिससे सब कुछ का ज्ञान और पता लगता है, उस ज्ञान गुण की स्थिति और सत्ता का बोध किस प्रकार होता है? आत्मा के दूसरे गुणों को तो ज्ञान जान सकता है, परन्तु स्वयं ज्ञान को कैसे जाना जाए? ज्ञान दूसरों की जानकारी तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु ज्ञान की जानकारी किससे होती है? प्रश्न का अभिप्राय यह है, कि ज्ञान कभी ज्ञेय बनता है कि नहीं?

जिस शक्ति के द्वारा आत्मा को वस्तुओं के स्वरूप आदि का बोध होता है, आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है। ज्ञेय वह है, जिसे ज्ञान की शक्ति से जाना जाता है। ज्ञाता वह है, जो ज्ञान प्राप्त करता है। अतः जिसके द्वारा बोध होता है, वह ज्ञान है। जिसे बोध होता है वह ज्ञाता है। और जिसका बोध होता है, वह ज्ञेय है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञान का विषय होने से ज्ञाता आत्मा और उसके दूसरे गुण भी ज्ञेय हैं। उनकी विभिन्न पर्याय भी ज्ञेय हैं, क्योंकि वे भी ज्ञान में प्रतिबिम्बित होती हैं। हमारा ज्ञान सीमित होता है, परन्तु केवलज्ञानी का ज्ञान असीम और अनन्त होता है। उनके अनन्त ज्ञान में समस्त पदार्थ और एक एक पदार्थ के अनन्त-अनन्त गुण तथा पर्याय प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। विश्व का एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो केवलज्ञान का ज्ञेय न बनता हो।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि आत्मा अपनी जिस शक्ति से पदार्थों का बोध करता है, उसे ज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान केवल दूसरों को ही जानता है अथवा अपने आपको भी जान सकता है? यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है, दर्शनशास्त्र का।

भारत के दर्शनों में से एक दर्शन ने यह भी कहा है, कि ज्ञान पर-पदार्थ को तो जान सकता है, किन्तु स्वयं अपने को नहीं जान सकता। अपने विचार की पुष्टि के लिए उन्होंने एक रूपक प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, कि नट-पुत्र नट-कला में कितना भी निपुण हो, वह दूसरे के कन्धों पर तो चढ़ सकता है, किन्तु स्वयं अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता। नट-पुत्र बांस पर चढ़ सकता है, पतली रस्सी पर नाच सकता है और दूसरे के कन्धों पर चढ़ कर लोगों का मनोरंजन कर सकता है। किन्तु वह कितना भी निपुण क्यों न हो, स्वयं अपने कन्धों पर नृत्य नहीं कर सकता। इस तर्क ने एक बहुत बड़ी विचार धारा एवं चिन्तन धारा खड़ी करदी है।

इस मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान कितना ही निर्मल और स्वच्छ क्यों न हो, उसमें पर-पदार्थ को जानने की शक्ति तो है, परन्तु अपने को जानने की शक्ति उसमें नहीं है। आँख दूसरे पदार्थों को देख लेती है, परन्तु वह अपने आपको नहीं देख सकती। यही स्थिति ज्ञान की है। जिस प्रकार आँख स्वयं को नहीं जानती, वह अपने से भिन्न दूसरों को ही जानती है, उसी प्रकार ज्ञान दूसरे पदार्थों को जान सकता है, परन्तु स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता।

इसका अभिप्राय यही हुआ कि ज्ञान एक अज्ञेय तत्व है। आश्चर्य है, दूसरों को जानने वाला स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता।

परन्तु भारत के दार्शनिकों का मस्ताष्क ज्ञान की इस अज्ञेयता पर चुप नहीं रह सका। मीमांसा दर्शन ने ज्ञान को अज्ञेय मान लिया, परन्तु प्रश्न यह है, कि जो स्वयं प्रकाश रूप नहीं है, वह दूसरे को प्रकाशित कैसे कर सकता है? जिस अन्धे व्यक्ति में स्वयं देखने की शक्ति नहीं है, वह अपने से भिन्न दूसरे अन्धों को मार्ग का परिज्ञान कैसे करा सकता है?

भारत के दूसरे दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप में यह कहा कि ज्ञान को अज्ञेय मानना तर्क-संगत नहीं है। ज्ञान में जब जानने की शक्ति है, तो जैसे वह दूसरे को जानता है वैसे स्वयं अपने आपको कैसे नहीं जान सकता? जैन दर्शन का सबसे बड़ा तर्क यही है, कि यदि ज्ञान में जानने की शक्ति है, तो दूसरों के समान वह स्वयं अपने आपको क्यों नहीं जान सकता? जैन दर्शन ने कहा कि ज्ञान तो दीपक के समान है, जैसे दीपक स्वयं अपने को भी जानता है और अपने से भिन्न दूसरे पदार्थों को भी जानता है। जिस प्रकार दीपक अपने से भिन्न दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है। यदि दीपक में स्वयं को प्रकाशित करने की शक्ति न हो, तो वह दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकेगा।

मैं आपसे आत्मा के ज्ञान गुण की चर्चा कर रहा था और आपको यह बता रहा था कि भारत के विभिन्न दार्शनिक ज्ञान के सम्बन्ध में क्या सोचते और विचारते रहे हैं? भारत के दार्शनिकों में कणाद और गौतम भी विख्यात दार्शनिक रहे हैं। वे भी ज्ञान को अज्ञेय नहीं मानते। उनका कहना है, कि ज्ञान स्वयं भी ज्ञेय है, परन्तु ज्ञान को ज्ञेय मानने

की पद्धति उनकी भिन्न है। उनका कथन है, कि एक ज्ञान के बाद एक दूसरा ज्ञान होता है, जिसे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। प्रथम ज्ञान का ज्ञान इस दूसरे ही ज्ञान से होता है। अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की कल्पना करके कणाद और गौतम ने एक बहुत बड़ा प्रयत्न यह किया कि उन्होंने ज्ञान को अज्ञेय कोटि से निकाल कर ज्ञेय की कोटि में खड़ा कर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता, किन्तु उस ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है और उस दूसरे ज्ञान को जानने के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता है।

इस पर जैन दर्शन का कथन है, कि यदि उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान का ज्ञान करता है, तो फिर उस उत्तरज्ञान का ज्ञान कौन करेगा? इस प्रकार जो सबसे अन्त का ज्ञान है, वह तो अज्ञेय ही रह जाएगा। इस प्रकार अनवस्था दोष भी आया और अन्तिम ज्ञान अज्ञेय ही बना रह गया। इसकी अपेक्षा यही मानना अधिक तर्कसंगत और समुचित होगा कि ज्ञान दीपक के समान दूसरे पदार्थों को जानता है और स्वयं अपने को भी जानता है, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त रहेगा कि ज्ञान स्वयं अपने को जान कर ही दूसरों को जानता है।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रथम ज्ञान के लिए दूसरे ज्ञान की कल्पना की जाएगी, तो यह प्रश्न खड़ा होगा, कि पहले ज्ञान की परीक्षा दूसरे ज्ञान ने ठीक रूप में की है या नहीं? अर्थात् उत्तरज्ञान ने पूर्वज्ञान को ठीक रूप में समझा है या नहीं? इसकी परीक्षा के लिए एक तीसरे ज्ञान की कल्पना करनी पड़ेगी। इस दृष्टि से यही अधिक तर्कसंगत है कि ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक मान लिया जाए। इससे न अनवस्था दोष रहेगा और न दूसरे-तीसरे ज्ञान आदि की अनन्त कल्पना ही करनी पड़ेगी। अतः ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक ही है।

इस सम्बन्ध में मैं आपसे यह कह रहा था कि ज्ञान को दीपक के समान स्व-पर-प्रकाशक मानना ही तर्कसंगत एवं उचित है। यदि ज्ञान में ज्ञेयता नहीं है, तो वह ज्ञान, ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान को ज्ञेय न मानना उचित नहीं है। जैनदर्शन का यह विश्वास है, कि ज्ञान में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है, जो स्वयं को भी जानता है और अपने से भिन्न को भी जानता है। इसी अभिप्राय से जैनदर्शन में ज्ञान को स्वपराभासी कहा है। स्वपराभासी का अर्थ है—स्वयं अपने को और अपने से भिन्न पर-पदार्थ को प्रकाशित करने वाला।

जिस प्रकार दीपक दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, तो साथ ही वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है। स्वयं को प्रकाशित किए बिना वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकता। यह कथमपि सम्भव नहीं है, कि दीपक जले और वह दूसरों को प्रकाशित करे, परन्तु स्वयं अप्रकाशित रहे अथवा उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरा दीपक जलाना पड़े। इसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त है, वह दूसरों को भी जानता है और स्वयं अपने को भी जानता है। इतना ही नहीं, बल्कि स्वयं को जान कर ही वह दूसरों को जानता है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान न स्वाभासी है और न पराभासी है, बल्कि

स्व-पराभासी है। स्वपराभासी का अर्थ यही है, कि अपने आपको जानता हुआ दूसरों को जानने वाला ज्ञान।

मैं आपसे पहले यह कह चुका हूँ, कि आत्मा में अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों में ज्ञान भी आत्मा का एक गुण है, किन्तु यह सामान्य नहीं, एक विशिष्ट गुण है। विशिष्ट गुण इसलिए है, कि इस चेतना शक्ति के आधार पर ही आत्मा को जड़ पदार्थों से भिन्न किया जा सकता है। आत्मा के स्वरूप का परिबोध और आत्मा से भिन्न पुद्गल आदि तत्वों का परिबोध इस ज्ञान गुण के आधार पर ही किया जाता है। आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का परिज्ञान ज्ञान गुण से ही किया जाता है। आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था का परिबोध भी ज्ञानगुण के आधार पर ही होता। पाप क्या है? पुण्य क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है? इस सबका बोध ज्ञान से ही होता है। इस दृष्टि से ज्ञानगुण सामान्य गुण नहीं, आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। आत्मा के प्रमेयत्व आदि गुण तो आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थ में भी रहते हैं, किन्तु ज्ञान गुण तो आत्मा का एक असाधारण गुण है, जो एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता है। ज्ञान गुण ही जड़ और चेतन की भेद-रेखा है। अभेद दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान गुण में आत्मा के अन्य अशेष गुणों का समावेश हो जाता है। यह केवल कथन ही नहीं है, किन्तु कुछ जैन आचार्यों ने इस दिशा में प्रयत्न भी किया है। आचार्य कुन्दकुन्द उन आचार्यों में से एक हैं, जिन्होंने अभेद दृष्टि से और अद्वैत प्रधान दृष्टि से यह बताया कि ज्ञानगुण में आत्मा के अन्य समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

ज्ञान वस्तुओं को प्रकाशमान करता है, उस समय क्या वह आत्मा को कर्म का बन्ध कराता है, यह एक दार्शनिक प्रश्न है। समाधान है कि निम्न अवस्था में ज्ञान के साथ जो राग द्वेष का मिश्रण रहता है, चारित्रमोहनीय के उदय से ज्ञान-धारा में जो शुभ-अशुभ भाव होता है, जैनदर्शन के अनुसार वही बन्ध का हेतु है। परन्तु जब ज्ञान-धारा में न रागांश रहता है और न द्वेषांश रहता है, तब उससे कर्म का बन्ध नहीं होता।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि रागद्वेष के कारण जब चेतना अशुद्ध हो जाती है, तभी कर्म का बन्ध होता है। और जब ज्ञान-चेतना विशुद्ध एवं पवित्र रहती है, तब कर्म का बन्धन नहीं होता। ज्ञान का काम किसी पर राग करना, किसी पर द्वेष करना, किसी पर वैर करना अथवा किसी पर प्रेम करना नहीं है। ज्ञान का काम तो एक मात्र वस्तुओं को प्रकाशित करना ही है।

इतनी बात अवश्य है, कि जब तक उसमें चारित्र-मोह का और दर्शन-मोह का प्रभाव रहता है, तब तक यह अशुद्ध ज्ञान बन्ध का हेतु ही रहता है। परन्तु सकल-मल-कलंकरहित विशुद्ध ज्ञान कभी बन्धन का हेतु नहीं बनता है। जब राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, तब आत्मा का ज्ञान गुण पूर्ण रूप से निर्मल और पवित्र बन जाता है। उस समय संसार के अनन्त-अनन्त जड़ चेतन पदार्थ ज्ञान में ज्ञेय रूप से प्रतिभासित होते

हैं, परन्तु उनसे किसी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं होता। अतः सिद्ध है कि ज्ञान बन्ध का हेतु नहीं है।

मैं आपसे ज्ञानगुण के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा था और यह कह रहा था, कि ज्ञाता ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है। किन्तु जानने के तरीके दो प्रकार के हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व षड्द्रव्यात्मक है। छह द्रव्यों के अतिरिक्त संसार अन्य कुछ भी नहीं है। संसार का जो कुछ भी खेल है, वह सब षड्द्रव्यों का ही है। षड्द्रव्य इस प्रकार हैं— जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

इन छह द्रव्यों में जीव ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है और शेष द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। ज्ञाता में ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण झलकते रहते हैं। अन्तर इतना ही है, कि केवलज्ञानी उन ज्ञेय पदार्थों को पूर्ण प्रत्यक्ष रूप में जानता है, जबकि श्रुतज्ञानी शास्त्र के आधार पर उन्हें परोक्ष रूप में जानता है। एक बात यहाँ पर और ध्यान में रखनी चाहिए कि इन षड्द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य एक होकर भी अनन्त है। क्योंकि जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। जिज्ञासा होती है, कि वस्तु के अनन्त धर्म कौन से हैं? इसके उत्तर में कहा गया है, कि वस्तु के गुण और पर्याय ही वस्तु के धर्म हैं। और गुण तथा पर्याय प्रत्येक वस्तु के अनन्त ही होते हैं। इस दृष्टि से एक वस्तु भी अपने आप में अनन्त है।

श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के आधार पर परोक्ष रूप में द्रव्यों को जान सकता है, किन्तु उनकी अनन्त पर्यायों को नहीं जान सकता। सान्तज्ञान से अनन्त पर्यायों को कैसे जाना जा सकता है? अनन्त को जानने के लिए ज्ञान भी अनन्त ही चाहिए। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि केवलज्ञानी ही अपने अनन्त ज्ञान में समग्र द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है। केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष जितने भी ज्ञान हैं, उनसे सीमित रूप में ही पदार्थों का परिज्ञान होता है।

कल्पना कीजिए, आपके समक्ष सरसों का एक विशाल ढेर पड़ा हुआ है। आप उस ढेर को देखकर यह तो जान सकते हैं, कि यह सरसों का ढेर है, परन्तु उन सरसों के दानों की संख्या कितनी है, यह आप नहीं बतला सकते। जब आप और हम सरसों जैसे स्थूल वस्तु का भी पूर्ण ज्ञान नहीं कर सकते, तब एक-एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायों का ज्ञान हम कैसे कर सकते हैं? इसी प्रकार मनुष्यों के समूह को देखकर हम यह कहते हैं, कि यह समाज है अथवा सभा है? एक मनुष्य के एक शरीर का ज्ञान हो जाता है, किन्तु उसके अनन्त-अनन्त परमाणुओं का ज्ञान करना हमारे वश की बात नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार सावरण ज्ञान ससीम होता है, और निरावरण ज्ञान असीम होता है। केवलज्ञान ही निरावरण ज्ञान है। इसी से उससे वस्तु के अनन्त गुण पर्यायों का परिज्ञान होता है।

ज्ञान के साथ पदार्थों का क्या सम्बन्ध है? यह भी एक जटिल प्रश्न है। पदार्थ का ज्ञान के साथ विषय-विषयी भाव सम्बन्ध है। ज्ञान विषयी है और पदार्थ विषय है। ज्ञान के साथ

पदार्थों का ज्ञाप्य ज्ञापक-भाव सम्बन्ध भी हो सकता है। ज्ञान-ज्ञापक है और पदार्थ ज्ञाप्य हैं। कुछ आचार्यों ने ज्ञान के साथ पदार्थों का बोध्य-बोधक भाव सम्बन्ध भी बतलाया है। ज्ञान बोधक है और पदार्थ बोध्य हैं।

परन्तु सबसे बड़ा प्रश्न यह है, कि ज्ञान का ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में दो विचार-धाराएँ सामने आती हैं—एक विचार-धारा वह है, जो ज्ञान को केवल पर-प्रकाशक ही मानती है। और दूसरी विचार-धारा वह है जो ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक मानती है। दूसरी विचार-धारा के अनुसार ज्ञान के साथ तीनों प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है—विषय-विषयी भाव सम्बन्ध, ज्ञाप्य ज्ञापक-भाव सम्बन्ध और बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध। जब ज्ञान स्वयं को जानता है, तब वह स्वयं ही विषयी है और स्वयं ही अपना विषय है, तब वह स्वयं ही ज्ञापक है और स्वयं ही ज्ञाप्य है, तब वह स्वयं ही बोधक है और स्वयं ही बोध्य है।

“मैं अपने आपको आपसे जानता हूँ।” इस वाक्य में जानने वाला और जिसको जाना जाता है, वे दोनों एक हैं, और जिससे जानता है, वह भी भिन्न नहीं है। इस उदाहरण में हम देखते हैं, कि यहाँ पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों एक हो गए हैं। अब तक के विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का पदार्थों के साथ ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है। इसी प्रकार जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान का ज्ञान के साथ भी ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है।

संसार में प्रत्येक पदार्थ, फिर भले ही वह चेतन हो अथवा जड़ हो, ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय होता है। ज्ञान का विषय शुभ एवं सुन्दर पदार्थ भी हो सकता है तथा अशुभ एवं असुन्दर पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ शुभ और अशुभ, सुन्दर और असुन्दर सभी हो सकते हैं। वृक्ष की टहनी में खिलने वाला फूल भी ज्ञेय है और उसी वृक्ष की टहनी में जन्म लेने वाला काँटा भी ज्ञेय रूप में प्रतिभासित और प्रतिबिम्बित होता है। मनुष्य के ज्ञान में ज्ञेय रूप से तीर्थकर एवं सिद्ध जैसी पवित्र आत्माएँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं और उसके ज्ञान में अभव्य एवं नारक आदि जैसे मलिन जीव भी प्रतिभासित होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है, कि आत्मा के ज्ञान-गुण में ज्ञेय रूप से संसारी जीव भी प्रतिबिम्बित होता है और सकलकर्मकलङ्क-विकल सिद्ध भी प्रतिभासित होता है। ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार के पदार्थ ज्ञान के विषय हैं। जब हम ज्ञान को दर्पण के समान मान लेते हैं, तब उसमें किसी भी प्रकार के पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़े बिना कैसे रह सकता है?

यह तथ्य आपको नहीं भूल जाना चाहिए कि ज्ञान का काम किसी पदार्थ को रागरूप अथवा द्वेषरूप में प्रतिभासित करना नहीं है। ज्ञान किसी भी पदार्थ को हित अहित रूप में प्रतिबिम्बित नहीं करता। ज्ञान का कार्य पदार्थ के रूप को प्रतिबिम्बित करना है। दर्पण का पदार्थों के साथ जो सम्बन्ध है, वही आत्मा के ज्ञान-गुण का सम्बन्ध पदार्थों के साथ में है। यह कभी सम्भव नहीं है, कि पदार्थ ज्ञान का विषय न हो अथवा ज्ञान पदार्थ को विषय न करे।



जब आत्मा अपनी ज्ञान-शक्ति से अपने शुद्ध स्वरूप को समझ लेता है, तब वह संसार के पदार्थों में न राग करता है और न द्वेष करता है, किन्तु जब आत्मा अपने स्वरूप को नहीं समझ पाता, तभी अज्ञानवश वह पदार्थों में राग-बुद्धि अथवा द्वेष-बुद्धि करता रहता है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जब आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और ज्ञान का कार्य राग-द्वेष करना नहीं है, तब आत्मा में राग-द्वेष कहाँ से और कैसे आ जाते हैं ?

इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि आत्मा में राग अथवा द्वेष की उत्पत्ति ज्ञान से नहीं होती, वह तो मोह के कारण ही होती है। पर-पदार्थों के साथ जो राग अथवा द्वेष का सम्बन्ध होता है, उसको करने वाला ज्ञान नहीं है, बल्कि चारित्रमोहनीयकर्म है। चारित्र गुण के विपरीत परिणाम को चारित्रमोह कहते हैं। जीव की क्रिया शक्ति की विकारी दशा चारित्र-मोह है और जीव की इसी शक्ति की अविकारी दशा चारित्र गुण है। इसी प्रकार आत्मा के दर्शन गुण के विकार को मिथ्यात्व कहा जाता है, जबकि आत्मा के दर्शनगुण के अधिकार को सम्यक्त्व कहा जाता है।

वस्तुतः चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय के कारण ही आत्मा में नाना प्रकार के विकारों की उत्पत्ति होती है, ज्ञान के कारण नहीं। ज्ञान तो आत्मा का एक विशिष्ट गुण है जिसके प्रकाश में आत्मा अपने स्वरूप का परिबोध करता है। ज्ञान अपने आप में विशुद्ध होता है। परन्तु चारित्रमोह तथा दर्शनमोह के कारण वह अशुद्ध बन जाता है, जिससे नवीन कर्मों का बन्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन के उपदेष्टा कणाद ने कहा है, कि संसार में सुख-दुःख और बन्धन आदि सभी का मूल कारण ज्ञान ही है। यही कारण है कि प्रभु से प्रार्थना करते हुए एक आचार्य ने यह कहा है कि भगवन्! इस ज्ञान से मेरा पिण्ड छुड़ाओ, क्योंकि जब तक ज्ञान विद्यमान है, तब तक शान्ति सम्भव नहीं है। अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए उनका तर्क है, कि बालक को परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का अथवा धनहानि आदि का दुःख नहीं होता है, क्योंकि उसमें दुःख की अनुभूति करने जैसे ज्ञान का अभाव रहता है। बालक को केवल देह का भान रहता है और इसीलिए भूख अथवा प्यास लगने पर वह रोता है। बाल्यकाल में दुःख शरीर तक ही सीमित रहता है। फिर आगे ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है और उसके ज्ञान का विकास होता है, त्यों-त्यों उसके मन में माता-पिता आदि परिवार एवं रिजन के विविध विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं, क्योंकि ज्ञान के विकास के साथ-साथ उसके मन में पदार्थों के प्रति अपनत्व का विकल्प भी पैदा हो जाता है। जैसे-जैसे ज्ञान विकसित होता और बढ़ता है, वैसे-वैसे दुःख और सुख के विकल्प भी विकसित होते रहते हैं और बढ़ते रहते हैं। विवाह करने से पूर्व उसके मन के विकल्प माता-पिता और बहिन-भाई तक ही सीमित थे, विवाह होने पर उन विकल्पों का विस्तार पत्नी और उसके माता-पिता तथा आगे चलकर अपने पुत्र और पुत्री तक फैल जाते हैं।

कणाद के अनुसार इस प्रकार ज्ञान के बढ़ने पर दुःख ही दुःख होता है। मनुष्य के मन में सुख-दुःखात्मक जितने अधिक विकल्प होंगे, उसके मन में उतनी ही अधिक अशान्ति

बढ़ेगी। इसी तर्क के आधार पर वैशेषिक दर्शन के उपदेष्टा कणाद ने कहा है, कि संसार में दुःखों का मूल कारण ज्ञान ही है। अतः ज्ञान को समाप्त करना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए, क्योंकि जब तक ज्ञान रहेगा, तब तक जीवन में शान्ति सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, कणाद दर्शन तो इससे आगे यह भी कहता है कि जब तक आत्मा में ज्ञान है, तब तक मुक्ति भी सम्भव नहीं है। जैसे राग और द्वेष आदि विकारों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार कणाद ज्ञान को भी आत्मा का विकार समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। कणाद-दर्शन के अनुसार मुक्त-अवस्था में आत्मा में ज्ञान नहीं रहता।

मैं आपसे वैशेषिक दर्शन की चर्चा कर रहा था और यह कह रहा था, कि वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को दुःख का कारण माना गया है। वैशेषिक दर्शन में इतनी सच्चाई तो अवश्य है, कि वह दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए उपदेश देता है, साथ ही वह आत्मा में ज्ञान की स्थिति को स्वीकार करता है, फिर भले ही वह संसारी अवस्था में क्यों न रहता हो। कणाद का कहना है कि ज्ञान आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। वह जब कभी उत्पन्न होगा, तब आत्मा में ही होगा, आत्मा के अतिरिक्त ज्ञान अन्य किसी पदार्थ में उत्पन्न नहीं हो सकता।

इतना होने पर भी इस दर्शन के सम्बन्ध में यह बात अवश्य विचारणीय रह जाती है कि यदि मुक्त अवस्था में आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है, तो फिर ज्ञान-शून्य आत्मा, आत्मा कैसे रह सकता है? यदि आत्मा में से ज्ञान का अभाव स्वीकार कर लिया जाए, तब वह चेतन न रहकर जड़ बन जाएगा। दूसरी बात यह है कि जब ज्ञान को आत्मा का एक विशिष्ट गुण मान लिया, एक असाधारण गुण स्वीकार कर लिया, फिर आत्मा को ज्ञान-शून्य कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि जो जिसका विशिष्ट अथवा असाधारण गुण होता है, वह अपने गुणी का परित्याग तीन काल में भी नहीं कर सकता।

अब रही ज्ञान से दुःख उत्पत्ति की बात, तर्क के प्रकाश में यह बात सत्य सिद्ध नहीं होती है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ दुःख ही होता है, इस प्रकार की व्याप्ति बनाना कथमपि सम्भव नहीं है। भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर उन विशिष्ट ज्ञानी साधकों का जीवन अंकित है, जिन्होंने अपने ज्ञान और विवेक के बल पर संसार की भयंकर से भयंकर पीड़ा को, यातना को तथा दुःख और क्लेश को भी सुखरूप समझा। निश्चय ही यदि उनके पास ज्ञान और विवेक का बल न होता, तो संसार के वे विशिष्ट साधक प्रसन्न भाव से न शूली पर चढ़ सकते थे, न फाँसी पर लटक सकते थे, और न हँसते-हँसते जहर का प्याला ही पी सकते थे। भारत में तथा भारत के बाहर कुछ ऐसे विलक्षण संत अथवा साधक हुए हैं, जिन्होंने शूली की नोक पर चढ़कर भी आत्मा का संगीत सुनाया, जो फाँसी के तख्ते पर झूलकर भी आत्मा के आनन्द को भूल नहीं सके। और जिन्होंने विष-पान करते हुए भी, सुख और शान्ति का अनुभव किया। यह सब कुछ ज्ञान और विवेक का ही चमत्कार है।

आपने जैन इतिहास की वह जीवन-गाथा सुनी होगी, जिसमें कहा गया है, कि किसी राजा ने एक मुनि के शरीर की चमड़ी को उसकी जीवित अवस्था में ही उतरवा डाला था। जैन इतिहास में उस दिव्य ज्योति का परिचय स्कन्दक मुनि के नाम से मिलता है। स्कन्दक मुनि को किस कारण पकड़ा गया और किस कारण वहाँ के राजा ने उनके शरीर की चमड़ी को उतारने का आदेश दिया, इस सम्बन्ध में मुझे यहाँ कुछ कह कर कहानी को लम्बा नहीं करना है। किन्तु मैं आपको यह बतला रहा हूँ कि जिस समय जल्लाद स्कन्दक मुनि के शरीर की खाल को उतार रहे थे, उस समय स्कन्दक मुनि के मन में क्या विचार थे और वे क्या सोच रहे थे ?

स्कन्दक मुनि अपने विवेक और निर्मल ज्ञान धारा में तल्लीन होकर विचार कर रहे थे, कि इन जल्लादों का क्या दोष है ? यह तो राजा के आदेश का पालन कर रहे हैं। अपने स्वामी के आदेश का पालन करना ही इनका कर्तव्य है। राजा का भी क्या दोष है ? निश्चय ही यह तो मेरे अपने कर्मों का ही दोष है। मैंने अपने पिछले जन्म में किसी प्रकार का भयंकर अशुभ कर्म किया होगा, उसी का यह फल आज मुझे मिल रहा है। महान् आश्चर्य है, कि शरीर से चमड़ी जिस समय उतारी जा रही थी, उस दारुण और भयंकर दुःख की वेला में भी स्कन्दक मुनि के मन में न चमड़ी उतारने वाले जल्लाद के प्रति द्वेष था और न चमड़ी उतारने का आदेश देने वाले राजा के प्रति ही।

आप यह मत समझिए, कि उस समय स्कन्दक मुनि को वेदना या पीड़ा नहीं हो रही थी। शरीर में एक छोटी सी सुई चुभने पर भी जब पीड़ा होती है और पैर में एक साधारण सा काँटा लग जाने पर भी जब व्यथा होती है, तब यह कैसे माना जा सकता है, कि शरीर की खाल उतारते समय स्कन्दक मुनि को वेदना, पीड़ा अथवा व्यथा नहीं थी। बात यह है कि शरीर की पीड़ा और व्यथा तो भयंकर थी, किन्तु आत्मा के परिबोध ने उस वेदना और व्यथा को उनके मन में प्रवेश नहीं करने दिया।

जब साधक आत्मा और पुद्गल में भेद-विज्ञान कर लेता है और यह निश्चय कर लेता है, कि आत्मा भिन्न है और यह शरीर भिन्न है, तब इस भेद-विज्ञान के आधार पर भयंकर से भयंकर कष्ट को भी सहन करने की अद्भुत क्षमता उसमें आ जाती है। स्कन्दक मुनि ने अपने शरीर पर से अपना उपयोग हटाकर उसे आत्मा में केन्द्रित कर दिया था। यही कारण है, कि जल्लाद उनके शरीर से खाल उतारता रहा और वे आत्मलीन रहे। इतना ही नहीं, स्कन्दक मुनि ने खाल उतारते समय शान्त स्वर से जल्लाद से कहा—“तुझे अपने इस कार्य को सम्पन्न करने में किसी प्रकार की असुविधा और बाधा न होनी चाहिए, इसके लिए यदि करवट बदलने की आवश्यकता हो तो मुझे बतला देना, मैं वैसा ही कर लूँगा।”

कल्पना कीजिए, जब किसी मृत शरीर की खाल उतरती देखने से भी मन में भय होता है तब जीवित शरीर पर से खाल उतारने के इस दारुण दृश्य को देखने वालों के मन

में भय क्यों न हुआ होगा? स्वयं खाल उतारने वाला जल्लाद भी इस भीषण कार्य से काँप उठा था। किन्तु स्कन्दक मुनि के मन में न किसी प्रकार का भय और न किसी प्रकार का कम्पन ही था। जरा विचार तो कीजिए, इस प्रकार की स्थिति में समभाव रखना कितना कठिन काम है? पर स्कन्दक मुनि के लिए यह कठिन न था, क्योंकि उन्होंने अपने उपयोग को एवं चेतना की धारा को शरीर पर हटाकर आत्मा में केन्द्रित कर दिया था। और जब ज्ञान की धारा शरीर से हटकर आत्मा में समाहित हो जाती है, तब दुःख होते हुए भी उसे दुःख की अनुभूति नहीं होती।

मैं आपसे कह रहा था, कि इस प्रकार की दशा जीवन में तब आती है, जब कि ज्ञान-चेतना विशुद्ध, निर्मल और पवित्र हो जाती है। यदि कणाद के अनुसार ज्ञान के कारण ही दुःख होता है, तब स्कन्दक मुनि को भी वह होना चाहिए था और उस स्थिति में वे अपने शरीर की चमड़ी कैसे उतरवा सकते थे? याद रखिए, इस प्रकार की स्थिति में न कोई अपने शरीर से चमड़ी उतरवा सकता है, न कोई शूली पर चढ़ सकता है, न कोई फाँसी के तख्ते पर झूल सकता है और न कोई हँसते-हँसते जहर का प्याला ही पी सकता है।

अतः इतिहास की उक्त जीवन गाथाओं से यह सिद्ध होता है, कि दुःख का कारण ज्ञान नहीं है, फलतः मुक्ति के लिए ज्ञान को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि शरीर और आत्मा में भेद-विज्ञान किया जाए। शरीर से उपयोग हटाकर, आत्मा में उस उपयोग को लगाना, साधक-जीवन की यह एक बहुत बड़ी और बहुत ऊँची कला है, जो ज्ञान और विवेक से ही प्राप्त की जा सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान दुःख का कारण नहीं है, किन्तु जब ज्ञान में राग-द्वेष का मिश्रण हो जाता है, तभी उसे दुःख का कारण कहा जाता है। ज्ञान से तो दुःख को दूर किया जाता है, ज्ञान और विवेक के कारण ही आत्मा में से विषमता दूर होकर समता उत्पन्न होती है।

मैं आपसे आत्मा के ज्ञान-गुण की चर्चा कर रहा था। आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह भलीभाँति परिज्ञात होता है, कि आत्मा का ज्ञान-गुण आत्मा से भिन्न नहीं है। जो आत्मा है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही आत्मा है। निश्चय-दृष्टि से ज्ञान और आत्मा में द्वैतता है ही नहीं, किन्तु व्यवहार-भाषा में ही हम कहते हैं कि आत्मा में ज्ञान-गुण है अथवा ज्ञान आत्मा का गुण है।

जैन-दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में न एकान्त भेद माना गया है और न एकान्त अभेद ही। जैन-दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में कथंचित् भेद भी है और कथंचित् अभेद भी है। जब भेद दृष्टि से कथन किया जाता है, तब हम कहते हैं, कि ज्ञान आत्मा का गुण है किन्तु जब अभेद दृष्टि से विचार किया जाता है, तब हम कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। जो ज्ञान है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही ज्ञान है।

ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान कराता है, इसके लिए हमें अपनी ज्ञान चेतना को यह आदेश नहीं देना पड़ता कि तुम पदार्थों का ज्ञान हमें कराओ। जिस प्रकार दर्पण का यह स्वभाव है कि उसके सामने जैसा बिम्ब आता है, वैसा ही उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का भी यह स्वभाव है, कि पदार्थ जैसा होता है, वैसा ही ज्ञान में प्रतिभासित हो जाता है। ज्ञान हो और वह अपने ज्ञेय का ज्ञान न कराए, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। ज्ञान में हजारों, लाखों, पदार्थ ज्ञेयरूप में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। केवलज्ञानी के ज्ञान में तो समस्त अनन्तानन्त पदार्थ और एक-एक पदार्थ की अनन्त-अनन्त पर्याय ज्ञेयरूप में प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होती रहती हैं।

दर्शनशास्त्र के अनुसार किसी पदार्थ का ज्ञान करने के लिए तीन तत्वों की आवश्यकता होती है—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। इसी की चर्चा मैंने आपसे की है। ज्ञाता आत्मा है, ज्ञान उसकी शक्ति है और ज्ञान का विषय बनने वाला पदार्थ ज्ञेय होता है। संसार में पदार्थ अनन्त हैं, इसलिए उन अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान भी अनन्त है। किन्तु आवरण-दशा में ज्ञान सीमित होता है, अतः सीमित पदार्थ ही हमारे ज्ञेय बनते हैं। निरावरण-दशा में ज्ञान अनन्त हो जाता है, अतः वह अनन्त पदार्थों को जान सकता है।

अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है—स्वभाव-ज्ञान और विभाव-ज्ञान। स्वभाव ज्ञान का अर्थ है, वह ज्ञान जिसमें न रागांश हो, और न द्वेषांश हो, आत्मा की शुद्ध दशा को ग्रहण करने वाला ज्ञान स्वभावज्ञान होता है। आत्मा का ज्ञान जब ज्ञानरूप में रहता है, तब संवर और निर्जरा की साधना से इस संसारी आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। जब ज्ञान के साथ राग-द्वेष रहता है, तब ज्ञान की वह विभाव दशा होती है। विभाव-दशा में आत्मा आम्लव के कारण कर्मबन्ध करता है और कर्मबन्ध के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि स्वभाव-ज्ञान मोक्ष का कारण है और विभाव-ज्ञान संसार का कारण है। ज्ञान की विशुद्धि और पवित्रता ही जीवन के विकास का कारण है।



## ६. नय ज्ञान की दो धाराएँ

श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करने की अपेक्षा है। श्रुतज्ञान प्रमाण रूप है, क्योंकि वस्तुतत्त्व का अखण्ड रूप से बोध करता है। श्रुतज्ञान रूप विराट् महासागर में रूपी, अरूपी, पुद्गल, आत्मा और धर्मास्तिकाय आदि सभी पदार्थों का ज्ञेयत्वेन समावेश हो जाता है। वह अपने ज्ञान प्रकाश में अनन्त वस्तुओं का निरूपण करता है। भले ही उन अनन्त वस्तुओं की झलक श्रुतज्ञान में परोक्ष रूप से ही होती है; परन्तु वह अपने में समग्र पदार्थों का प्रतिबिम्ब अवश्य ले सकता है।

जैन दर्शन में नयों का जो वर्णन आता है, उनका सम्बन्ध किस ज्ञान से है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि नयों का सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है। श्रुत के ही भेद, विकल्प या अंश नय हैं। श्रुतज्ञान अंशी है, और नय उसके अंश हैं। अतः एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है, कि श्रुतज्ञान तो प्रमाण है, किन्तु नय प्रमाण हैं अथवा अप्रमाण ? इसके उत्तर में कहा गया है कि नय न एकान्त रूप से प्रमाण है और न एकान्त रूप से अप्रमाण ही है, अपितु प्रमाण का अंश है। जिस प्रकार समुद्र की तरंग को हम न समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही, हाँ समुद्र का अंश अवश्य कह सकते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञान रूपी महासागर की तरंगें हैं—नय। इस दृष्टि से हम उन्हें न प्रमाण कह सकते हैं, न अप्रमाण ही। श्रुतज्ञान रूप प्रमाण सागर का अंश होने से उन्हें प्रमाणांश कह सकते हैं।

यद्यपि नयों के असंख्यात प्रकार हैं, तथापि मुख्य रूप से नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय आत्मतत्त्व के अखण्ड रूप का वर्णन करता है। देश और काल के भेद से अथवा गुण और पर्याय के भेद से वह आत्मा के अलग-अलग स्वरूप का वर्णन नहीं करता, बल्कि त्रिकाली जीवस्वरूप अखण्ड चैतन्यधारात्मक आत्मस्वरूप के परिबोध में ही उसकी सार्थकता है। निश्चय नय में आत्मा बद्ध नहीं मालूम पड़ता, बल्कि वह बन्धन-मुक्त सदा एक रस ज्ञायकस्वभावी मालूम पड़ता है। बद्ध दशा आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है। निश्चयनय में आत्मा का त्रिकाली रूप ही झलकता है। उसमें आत्मा का देशकाल आदि अपेक्षाकृत रूप नहीं झलकता है। आत्मा की बद्ध अवस्था उसका त्रिकाली स्वरूप नहीं है, क्योंकि कर्म का क्षय कर देने पर उसकी सत्ता नहीं रहती है। इसी कारण से निश्चय नय में कर्मों का भान नहीं होता, बल्कि आत्मा के शुद्ध एवं निर्विकार स्वरूप का ही दर्शन होता है। आत्मा बन्धन मुक्त है और इसी स्वरूप का दर्शन निश्चयनय में होता है। आत्मा के बदलते हुए विभिन्न बन्धन-युक्त रूपों का दर्शन उसमें नहीं होता है।

निश्चय नय में शरीर, इन्द्रिय और मन भी नहीं झलकता है, क्योंकि वे आज हैं तो कल नहीं हैं, वे अनादि, अनन्त एव त्रिकाली नहीं है। आत्मा की जो बदलने वाली अवस्था जिसका आदि है, और अन्त भी है, वह निश्चय नय में दिखलाई नहीं पड़ती है। उसमें केवल आत्मा के त्रिकाली, अखण्ड, अनादि एवं अनन्त स्वरूप का दर्शन ही होता है। निश्चय नय में आत्मा का विभाव भाव परिलक्षित नहीं होता है, केवल आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही उसमें परिलक्षित होता है। निश्चय नय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि आत्मा की जो अवस्था बन्ध और कर्म के स्पर्श से रहित है, जहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं है और जिसमें किसी भी प्रकार का विकार प्रतिबिम्बित नहीं होता है, आत्मा की उस विशुद्ध दशा का नाम ही निश्चय नय है। वस्तुतः इस निश्चय नय की शुद्ध प्रतीति को ही परम शुद्ध सम्पत्त्व कहते हैं। यह अवस्था आत्मा की विशुद्ध अवस्था है।

संसार कर्मों का ही एक खेल है। आत्मा का बद्धरूप, स्पृश्य रूप, भेद रूप और अनियत रूप तो साधारण दृष्टि में झलकता है, परन्तु आत्मा अबद्ध है, अस्पृश्य है, अभिन्न है और नियत है—इस प्रकार इसके विशुद्ध स्वरूप का परिबोध जब तक नहीं हो पाएगा, तब तक आत्मा अपने भव-बन्धनों से विमुक्त नहीं हो सकेगा। जहाँ भेद और विकल्प रहते हैं, वहाँ निश्चय नय नहीं होता। निश्चय नय वहीं होता है, जहाँ किसी भी प्रकार का भेद और किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं रहने पाता। निश्चय नय की देह, कर्म, इन्द्रिय और मन आदि से परे एकमात्र विशुद्ध आत्म-तत्त्व पर ही एकाग्रतारूप दृष्टि रहती है।

जैन-साधना का लक्ष्य राग-द्वेष आदि विकारों पर विजय प्राप्त करना है। कर्मों का जो उदय भाव है, वह निश्चय दृष्टि का लक्ष्य नहीं है। इन्द्रियों का विषय और मन का विषय भी आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है। यह सब औदयिक भाव है, जो कर्मों के उदय से प्राप्त होता है। निश्चय दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति इसे कभी भी अपना स्वरूप नहीं मानता है। जैन दर्शन का लक्ष्य व्यवहार नय को लॉघ कर उस परम विशुद्ध निर्विकार स्थिति तक पहुँचना है, जहाँ न किसी प्रकार का क्षोभ रहता है और न किसी प्रकार का मोह ही रह पाता है। पर्यायों की जो प्रतिक्षण बदलती दशा भेदरूप दृष्टिगोचर होती है, उस को भी लॉघ कर उससे भी परे जो एक अभेद द्रव्यार्थिक भाव है और जो अनादि काल से कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं, और जब अशुद्ध हुआ ही नहीं तो फिर शुद्ध भी कहाँ रहा? इस प्रकार जो शुद्ध और अशुद्ध दोनों से परे एकमेवाद्वितीय निर्विकल्प, त्रिकाली निजस्वरूप है, वही शुद्ध निश्चय नय का स्वरूप है। शुद्धनिश्चय नय द्रव्यप्रधान होता है। क्षण-क्षण में बदलने वाली नर एवं नारकादि पर्यायों को वह ग्रहण नहीं करता। वह तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ही ग्रहण करता है। जो व्यक्ति शुद्ध निश्चय नय को प्राप्त कर लेता है, उसके लिए सत्, चित् एवं आनन्द रूप आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस संसार में न ज्ञातव्य रहता है, न प्राप्तव्य रहता है और न उपादेय ही रहता है।

देह के अस्तित्व की प्रतीति करना, इन्द्रिय और मन आदि के स्वरूप को जानना भी, चतुर्थ गुणास्थान पर आरोहण करने के लिए अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है। कर्म को एवं आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को स्वीकार करने में भी सम्यक्त्व की कोई ज्योति एवं प्रकाश नहीं है, क्योंकि जहाँ तक देह, इन्द्रिय, मन, कर्म और राग और द्वेष हैं, वहाँ तक संसार की स्थिति ही रहती है। सम्यक् दृष्टि आत्मा का दृष्टिकोण शरीर, इन्द्रिय, मन और कर्म आदि से परे होना चाहिए, क्योंकि ये सब भौतिक होते हैं। एक अभौतिक तत्व आत्मा ही उसके जीवन का लक्ष्य होता है। कर्म एवं राग-द्वेष आदि के विकल्प भी आत्मा के अपने नहीं हैं। अज्ञानी आत्मा अज्ञानवश ही इन्हें अपना समझता है। कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं है। क्योंकि वह त्रैकालिक नहीं है, आगन्तुक है। कर्म का मूल कारण राग और द्वेष हैं। सम्यक् दृष्टि आत्मा इन विभाव भावों को कभी अपना स्वरूप नहीं समझता। एक मात्र शुद्ध आत्म तत्व को ही वह अपना स्वरूप समझता है। धर्म-साधना का एक मात्र उद्देश्य यही है, कि आत्मा स्व-स्वरूप में लीन हो जाए। धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। अतः आत्मा का जो त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप है, वही धर्म है।

मैं आपसे निश्चय दृष्टि की बात कह रहा था। जीवन के असंख्यात एवं अनन्त विकल्पों को छोड़कर स्व-स्वरूप की प्रतीति करना ही निश्चय नय है। मन के संकल्प और विकल्पों से परे आत्मा का दर्शन करना ही सम्यक्त्व है। आत्मा अनन्य और अभेद है। आत्मा के इस स्वरूप का श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन कहा जाता है। आत्म-स्वरूप की प्रतीति हुए बिना, अपने स्वरूप को समझे बिना, अपने को धर्म-साधना में लगाए रखना सम्भव नहीं है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को न देखकर उसके शुद्ध स्वरूप को ही ग्रहण करना, यही निश्चय नय है। निश्चय नय के अभाव में धर्म-साधना का मूल्य एक शून्य बिन्दु से बढ़कर नहीं रहता। निश्चय नय निमित्त को न पकड़ कर उपादान को पकड़ता है, जबकि व्यवहार नय उपादान पर न पहुँच कर, केवल निमित्त में ही अटक जाता है। व्यवहार दृष्टि से देखने पर तो यह आत्मा अशुद्ध और कर्मबद्ध प्रतीत होता है, किन्तु निश्चय नय से देखने पर वह अबद्ध और शुद्ध प्रतीत होता है। व्यवहार नय से देखने पर आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं जाना जाता, क्योंकि निमित्त कारणों से होने वाले परिवर्तनों को ही वह आत्मा का स्वरूप समझने लगता है, जबकि निश्चय नय से देखने पर हमें आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही परिज्ञात होता है, क्योंकि निश्चय नय आत्मा के विभाव-भावों को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता।

निश्चयनय और व्यवहार नय के सम्बन्ध में आपको एक बात और समझ लेनी चाहिए कि व्यवहार नय का आधार भेद दृष्टि है, जबकि निश्चय नय का आधार अभेद दृष्टि है। भेद में अभेद देखना, यह निश्चय नय है और अभेद में भेद देखना, यह व्यवहार



नय है। अभेद दृष्टि से देखने पर आत्मा का एक और अखण्ड विशुद्ध स्वरूप ही परिज्ञात हो जाता है, इसके विपरीत व्यवहार नय से देखने पर आत्मा पर्याय भाव से भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होती है, उसमें अभेद का दर्शन नहीं होने पाता।

मैं आपसे निश्चय नय की बात कर रहा था, किन्तु अब व्यवहार नय के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लें। व्यवहार नय के मुख्य रूप में दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहार नय तथा असद्भूत व्यवहार नय। यदि आप गम्भीरता के साथ विचार करेंगे तो आपको यह प्रतीत होगा कि इन दोनों में मौलिक भेद क्या है? जब हम ज्ञान और आत्मा को अभिन्न मानते हुए कहते हैं, कि ज्ञान स्वयं आत्मा है, तब यह निश्चय नय की भाषा होती है। और जब हम ज्ञान और आत्मा को भिन्न मानते हुए यह कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का गुण है, तब यह व्यवहार नय होता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यह सद्भूत व्यवहार नय है। यहाँ पर आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। गुण कभी अपने गुणी से अलग नहीं हो सकता और गुणी भी कभी गुणशून्य नहीं हो सकता। जल में शीतलता रहती है और अग्नि में उष्णता रहती है, किन्तु जल की शीतलता को जल से अलग नहीं किया जा सकता और अग्नि की उष्णता को भी अग्नि से कभी अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान गुण को कभी आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता। गुण और गुणी में अभेदता और अखण्डता रहती है। फिर भी ज्ञान आत्मा का गुण है, इस उदाहरण में भेद की जो प्रतीति होती है, वह अभेद में भेद का केवल व्यवहार है। व्यवहार में आत्मा को गुणी माना जाता है और ज्ञान को उसका गुण माना जाता है, यह तो बोलने और समझने की भाषा है। वस्तुतः गुण और गुणी में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता है। ज्ञान जब कभी रहेगा, तब आत्मा में ही रहेगा, आत्मा से अलग वह कहीं रह नहीं सकता, फिर भी यहाँ पर जो गुण और गुणी में भेद बतलाने का प्रयत्न किया है, उसका अभिप्राय इतना ही है, कि यह कथन अभेद दृष्टि से न होकर भेद दृष्टि से किया गया है।

जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध है, आधार-आधेय भाव सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि घृत और पात्र में होता है। घृत आधेय है और पात्र उसका आधार है। पात्र में घृत संयोग सम्बन्ध से रहता है, परन्तु घृत पात्र स्वरूप न होने से उनका सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। जबकि आत्मा का और उसके ज्ञान गुण का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में न एकान्त भेद होता है और न एकान्त अभेद। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रहता है। मूल द्रव्य की अपेक्षा से अभेद सम्बन्ध रहता है और गुण एवं पर्याय की दृष्टि से भेद सम्बन्ध रहता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यहाँ पर जो भेद बतलाया है, वह सद्भूत है, असद्भूत नहीं, क्योंकि ज्ञान आत्मा में ही मिलता है, आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी उपलब्धि नहीं होती। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि यह सद्भूत व्यवहार नय है। सद्भूत होते हुए भी यह व्यवहार ही है, निश्चय नहीं। क्योंकि जहाँ भेद की कल्पना की जाती है, वहाँ व्यवहार ही होता है। ज्ञान आत्मा से अभिन्न होते

हुए भी, इस उदाहरण में, उसमें भेद की कल्पना की गई है। इसी आधार पर यह सद्भूत व्यवहार नय है। सद्भूत व्यवहार नय मानता है, कि जो वस्तु सत् है, उसमें भेद भी है। इस प्रकार आत्मा में और उसके गुणों में भेद न होने पर भी जब भेद की कल्पना की जाती है तब उसे व्यवहार नय कहा जाता है। व्यवहार नय में उपचार किया जाता है। यहाँ ज्ञान गुण और आत्मा में भेद न होने पर भी भेद का उपचार किया गया है, अतः व्यवहार नय है।

व्यवहार नय का दूसरा भेद है—असद्भूत व्यवहार नय। असद्भूत व्यवहार नय कहाँ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि जहाँ भेद का कथन हो, किन्तु वह सद्भूत न होकर यदि असद्भूत हो तो वहाँ पर असद्भूत व्यवहार नय का कथन किया जाता है। उदाहरण के लिए समझिए कि जब मैं यह कहता हूँ कि, 'यह शरीर मेरा है' तब यह कथन असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। वस्तुतः यह शरीर मेरा नहीं है, अर्थात् जीव का अपना नहीं है, यह तो पुद्गलों से बना हुआ है। इसी प्रकार मन और इन्द्रिय भी आत्मा के अपने न होकर शरीर के समान पौद्गलिक ही हैं। फिर भी व्यवहार में हम यह कहते हैं कि मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन। वस्तुतः उक्त तीनों तत्व अपने न होते हुए भी हम उनमें अपनत्व का उपचार करते हैं। इसी आधार पर इस दृष्टि को असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है।

कल्पना कीजिए; आपके सामने एक मिट्टी का घड़ा रक्खा हुआ है, उसमें कभी घी रखा था। अतः उस मिट्टी के घड़े को जब आप मिट्टी का न कह कर, घी का घड़ा कहते हैं, तब इसका अर्थ यह होता है कि आपका यह कथन असद्भूत व्यवहार नय की दृष्टि से हुआ है। वास्तव में घड़ा न कभी घी का होता है और न तेल का होता है, किन्तु संयोग सम्बन्ध को लेकर हम यह कहते हैं कि यह घी का घड़ा है और यह तेल का घड़ा है। क्योंकि भूत काल में अथवा वर्तमान काल में उस घड़े के साथ हम घी का और तेल का संयोग सम्बन्ध देख चुके हैं, इसी आधार पर व्यवहार में हम यह कह देते हैं, कि घी का घड़ा अथवा तेल का घड़ा लाओ। भविष्य के संयोग सम्बन्ध को लेकर भी वर्तमान में घी घड़ा और तेल का घड़ा, इत्यादि व्यवहार हो सकता है। परन्तु यह कथन सत्यभूत नहीं है। इसीलिए इसे असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है, क्योंकि घड़ा घी से और तेल से कभी निर्मित नहीं होता।

शरीर और आत्मा में भेद है, परन्तु दोनों के संयोग को लेकर यह कथन कर दिया गया है, कि 'मेरा शरीर।' शरीर और आत्मा में भेद है, क्योंकि शरीर भौतिक है और आत्मा अभौतिक है। शरीर जड़ है, और आत्मा चेतन है। चेतन रूप आत्मा का जड़ रूप शरीर अपना कैसे हो सकता है। यह सत्य होने पर भी हम देखते हैं, कि आत्मा इस शरीर में वास करता है। देही इस देह में विद्यमान है। जब देही इस देह में निवास करता है तो उपचार से यह मान लिया गया, कि यह शरीर आत्मा का है।

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति जिसका अपना घर नहीं है, वह किसी दूसरे का घर किराए पर ले कर उसमें रहता है, वह व्यक्ति जब तक उसमें रहता है, तब तक वह उसे अपना ही कहता है। वह कभी नहीं कहता कि यह घर मेरा नहीं है। यही दृष्टि मैं आपको यहाँ बतला रहा था। शरीर और आत्मा स्वभावतः भिन्न होने पर भी, यहाँ पर शरीर को जो मेरा कहा गया है, इस उपचार कथन का मुख्य कारण शरीर और आत्मा का संयोग सम्बन्ध ही है। इसी प्रकार मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन, यह यह कथन भी उक्त आधार पर ही किया जाता है। भेद होते हुए भी यहाँ अभेद का कथन उपचार से किया गया है, और वह उपचार भी सदभूत न होकर असदभूत ही है। इसी आधार पर इस दृष्टि को असदभूत व्यवहार नय कहा जाता है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि जब दृष्टि अभेदप्रधान होती है, तब निश्चय नय होता है और जब दृष्टि भेदप्रधान होती है, तब व्यवहार नय होता है। व्यवहार नय में भी कथन दो प्रकार का होता है—सदभूत और असदभूत। जब सदभूत कथन होता है, तब वह सदभूत व्यवहार नय कहलाता है और जब कथन असदभूत होता है तब उसे असदभूत व्यवहार नय कहा जाता है। वस्तुकथन के अनेक प्रकार हैं। एक ही वस्तु का कथन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। इसी को अनेकान्त दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है, जो जैनदर्शन का प्राण है।

मैं आपसे निश्चय नय और व्यवहार नय की बात कह रहा था। निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध में यथार्थ दृष्टिकोण समझाने का मैंने प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि विषय बड़ा गम्भीर है, पर यह भी सत्य है कि इसे समझे बिना आप जैन-दर्शन के मर्म को नहीं समझ सकते। जैन दर्शन के अध्यात्मवाद को समझने के लिए तो निश्चय नय और व्यवहार नय को समझना परमावश्यक है।

निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को समझने के लिए एक दूसरे प्रकार से भी विचार किया गया है, जो इस प्रकार है। आत्मा और कर्म पुद्गल को एक क्षेत्रावगाही कहा है। आकाश रूप क्षेत्र में आत्मा और कर्म पुद्गल दोनों रहते हैं। अतः आत्मा और कर्म पुद्गल दोनों का क्षेत्र एक है, परन्तु यह कथन व्यवहार दृष्टि से किया गया है। निश्चय नय में यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा आत्मा में रहता है, कर्म-कर्म में रहता है, और आकाश-आकाश में रहता है। निश्चय नय की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य अपने में ही रहता है, किसी दूसरे में नहीं। प्राचीन काल में भी इस प्रकार का प्रश्न उठाया गया था कि आत्मा कहाँ रहता है और सिद्ध कहाँ रहते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि आत्मा और सिद्ध आकाश में रहते हैं, परन्तु आकाश में तो आकाश रहता है, फिर वहाँ आत्मा और सिद्ध कैसे रह सकते हैं, अतः वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा आकाश में नहीं रहता, बल्कि आत्मा में ही रहता है। इसी प्रकार कर्म आकाश में नहीं रहता, कर्म में ही रहता है। यह निश्चय दृष्टि है। परन्तु व्यवहार नय की दृष्टि में एक क्षेत्रावगाही एवं संयोगी होने के

कारण दोनों का क्षेत्र एक कहा जाता है। दूध और पानी मिलने पर यह नहीं कहा जाता कि यह दूध का पानी है, बल्कि यह कहा जाता है, कि यह दूध है। क्योंकि जब दूध पानी मिल गए तो दोनों अलग कहाँ रहे? परन्तु निश्चय दृष्टि से देखने पर दूध और पानी एक नहीं हो सकते। दूध-दूध है और पानी-पानी। एक क्षेत्रावगाही होने मात्र से ही दोनों एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार यहाँ पर भी आत्मा और कर्म एक क्षेत्रावगाही होने से एक नहीं हो सकते। निश्चय नय की दृष्टि से विचार करने पर आत्मा और कर्म दोनों की सत्ता अलग-अलग है। आत्मा चेतना है और कर्म पुद्गल हैं, वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं, जबकि दोनों के स्वभाव अलग-अलग हैं। अतः व्यवहार नय से आकाश रूप एक क्षेत्र में रहते हुए भी निश्चय से वे अलग हैं।

कल्पना कीजिए, आप स्वर्ण खरीदने के लिए बाजार गए। यदि किसी प्रकार आपको यह मालूम हो जाएगा कि जिस स्वर्ण को आप खरीद रहे हैं, उसमें मिलावट है, तो निश्चय ही आप छोटे सोने को खरीदने के लिए तैयार नहीं होंगे। मिलावट उसी अवस्था का नाम है, जबकि दो विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण होता है। जब सोने में सोने के अतिरिक्त किसी दूसरी धातु का मिश्रण होता है, तब आप उसे लोक-भाषा में खोटा सोना कहते हैं। इसी प्रकार खोटा रुपया, खोटा पैसा आदि व्यवहार आप करते रहते हैं। जब तक आपको सोने के खोटेपन का बोध नहीं था, तब तक आप उसे खरीद सकते थे, किन्तु जब उसके खोटेपन का परिज्ञान आपको हो जाता है, तब आप उसे नहीं खरीदते। इसी प्रकार आत्मा और कर्म दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं, किन्तु अनादिकाल से उनका संयोग है। आत्मप्रदेश और कर्म परमाणु परस्पर दूध और पानी के समान मिले हुए हैं, परन्तु यह दृष्टि व्यवहार दृष्टि है, निश्चय दृष्टि नहीं। निश्चय दृष्टि में किसी भी प्रकार की मिलावट ग्रहण नहीं की जा सकती। आत्मा को आत्मा समझना और कर्म को कर्म समझना, यही निश्चय दृष्टि है। व्यवहार दृष्टि आत्मा और कर्म में भिन्नता की प्रतीति नहीं करती, वह कर्म को आत्मा का ही रूप समझ लेती है, जिस प्रकार कि एक अज्ञानी व्यक्ति खोटे सोने को सच्चा सोना समझने की भूल कर लेता है। इसके विपरीत निश्चय दृष्टि वह है, जो वस्तु के मूल स्वरूप को ग्रहण करती है। आत्मा के मूल-स्वरूप को ग्रहण करने वाली दृष्टि, आत्मा के वैभाविक रूप को ग्रहण कैसे कर सकती है। मैं आपसे यह कह रहा था, कि जीवन-विकास के लिए निश्चय नय का ज्ञान परमावश्यक है। निश्चय नय आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को समझने के लिए परम साधन है।



## ७. संसार-मुक्ति का हेतु : ज्ञान

यह संसार क्या वस्तु है? क्या इस संसार का कभी विनाश हो सकता है? जीवन के साथ जगत का और जगत के साथ जीवन का क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार के प्रश्न दर्शन-शास्त्र में चिरकाल से उठते रहे हैं और उनका समय-समय पर समाधान भी किया जाता रहा है। मुख्य प्रश्न यह है, कि इस संसार का स्वरूप क्या है? और इसका विनाश अथवा अभाव कैसे हो सकता है? शास्त्रों में कहा गया है, कि जब आत्मज्ञान प्रकट हो जाता है, तब संसार नहीं रहता। संसार समाप्त हो जाता है, फिर उसकी स्थिति नहीं रहती। कहा गया है कि—‘ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः?’ तत्त्व का परिज्ञान हो जाने पर फिर यह संसार नहीं रह पाता।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि तत्त्व ज्ञान हो जाने पर संसार क्यों नहीं रहता? यदि संसार सत्यभूत है और वास्तविक है, तो फिर उसकी सत्ता से इनकार कैसे किया जा सकता है? जो सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकता है। और जो असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता। यदि संसार सत् है, तो तत्त्वज्ञान के प्रकट होने पर भी वह रहेगा ही, उसका विलोप और विनाश नहीं हो सकता। फिर भी यहाँ पर तत्त्वज्ञान से संसार का जो विनाश बतलाया है, उसका एक विशेष उद्देश्य है। विशेष उद्देश्य यही है, कि तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाने पर बाहर में संसार की सत्ता तो रहती है, परन्तु अन्दर में साधक के मन में संसार की आसक्ति नहीं रहती, फलतः संसार नहीं रहता। संसार की सत्ता रहे, पर आसक्ति न रहे तो साधक जीवन की यह एक बहुत बड़ी सिद्धि है। जैन दर्शन में इसी को वीतराग अवस्था कहा गया है। गीता में इसी की स्थितप्रज्ञ दशा कहा गया है। जीवन में इस प्रकार की स्थिति और इस प्रकार की अवस्था का आना ही साधना की सफलता है।

जब यह कहा जाता है, कि आत्मा की शुद्ध वस्तुस्थिति का पता चल जाने पर तथा स्व-पर का भेदज्ञानरूप तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाने पर संसार नहीं रहता, तब प्रश्न उठता है, कि संसार नष्ट होने का क्या अर्थ है? ज्ञान होने पर शरीर रहता ही है। इन्द्रियाँ भी रहती हैं और मन भी रहता है। मन में विचार भी उठते रहते हैं, कभी सुख और कभी दुःख की स्थिति भी आती और जाती रहती है।

जैन दर्शन कहता है कि जब तक कर्म हैं और जब तक कर्म का उदयभाव है, तब तक सुख और दुःख, हानि और लाभ, जीवन और मरण, शान्ति और अशान्ति—ये सब द्वन्द्व चलते ही रहेंगे। शरीर के सुख एवं दुःख के भोग भी मिटेंगे नहीं। इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती रहेंगी। फिर संसार क्या मिटा और कैसे मिटा? तत्त्वज्ञान होने पर

भी, जब यह रहते ही हैं, तब फिर संसार के विनाश का क्या अभिप्राय है? भारत के अध्यात्मदर्शी दार्शनिकों ने कैसे कह दिया कि तत्त्वज्ञान होने पर संसार नष्ट हो जाता है!

प्राचीन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में गम्भीर विचार किया है। अपने चिन्तन की चाबी से रहस्य के ताले को खोलने का प्रयत्न किया है। उन तत्त्व चिन्तकों ने कहा है, कि आत्मतत्त्व मूल में एक ही है। उसमें कहीं पर भी नानात्व प्रतीत नहीं होता। आत्मा की औदयिक आदि विविध पर्यायों में और रूपों में केवल उस त्रिकालीज्ञायक स्वभाव रूप एक आत्मरूप का ही ध्यान करो, तथा प्रतिक्षण बदलती हुई अनन्त पर्यायों का जो प्रवाह बह रहा है, उसमें उस एक दिव्य शक्ति की ही खोज करो और अपने अन्दर में यही विचार करो कि हमें उस एक के लक्ष्य पर पहुँचना है।

जैन दर्शन के अनुसार इस विचार को द्रव्य दृष्टि और पारिणामिक भाव कहा जाता है। भेद से अभेद की ओर जाना, खण्ड से अखण्ड की ओर जाना तथा विभाव से स्वभाव की ओर जाना ही, पारिणामिक भाव है। यह जो दृश्यमान जगत है, सुख-दुःख है, मन और इन्द्रियों का भेद है, उससे निकल कर अभेद, अनादि और अनन्त ध्रुव स्वरूप में लीन होना ही वस्तुतः आत्मा का सहज स्वभाव है।

संसार के जितने भी परिवर्तन हैं, उन सबका आधार भेद-बुद्धि है। जहाँ-जहाँ भेद-बुद्धि है, वहाँ-वहाँ पर्याय और परिवर्तनों का चक्र चलता ही रहता है। जब तक यह भेद-दृष्टि विद्यमान है, तब तक संसार में आत्मा को न सुख है, न सन्तोष है और न शान्ति है।

प्रत्येक साधक को यह विचार करना चाहिए कि इन पर्याय और रूपों के भेदों में लीन रहना मेरा जीवन-उद्देश्य नहीं है। मेरे जीवन का एक मात्र लक्ष्य यही है, कि मैं अनेक से एक की ओर आगे बढ़ूँ, भेद से अभेद की ओर प्रगति करूँ तथा उदयभाव से निकल कर पारिणामिक भाव की ओर नित्य चलता रहूँ। जहाँ भेद-बुद्धि और पर्यायबुद्धि होती है, वहाँ एकत्व नहीं रहता, अनेकत्व आकर खड़ा हो जाता है। यह अनेकत्व भी क्या है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि साधक के जीवन में तन का, मन का, इन्द्रियों का तथा राग एवं द्वेष आदि विकल्पों का ही अनेकत्व है। जैन दर्शन के अनुसार इस अनेकत्व से एकत्व की ओर बढ़ना ही द्रव्य-दृष्टि एवं अभेद दृष्टि है।

एक बार एक पुस्तक में मैंने पढ़ा कि भारतीय दर्शन का लक्ष्य एकत्व में अनेकत्व का प्रतिपादन करना है। परन्तु मेरे विचार में यह कथन उचित नहीं है। अनेकत्व की ओर बढ़ना भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य नहीं है। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ, कि जीवन की प्रारम्भिक साधना में कुछ दूर तक यह अनेकत्व हमारा साथ देता है। इस अभिप्राय से वह हमारा साधन हो सकता है, साध्य नहीं हो सकता। साध्य तो एक मात्र एकत्व ही है। अभेद-दृष्टि ही है। जीवन के खण्ड-खण्ड रूपों में एकमात्र अखण्ड रूप को ही देखना, यही भारतीय दर्शन और संस्कृति का मूल रूप है।

भारतीय दर्शन का लक्ष्य एकत्व में अनेकत्व का दर्शन नहीं है, बल्कि अनेकत्व में एकत्व का दर्शन करना है। भारतीय दर्शन अनेकत्व में एकत्व का, भेद में अभेद का, खण्ड में अखण्डता का और पर्याय में द्रव्य का विधान करता है। यही है, एक मात्र उसका अपना लक्ष्य एवं केन्द्र-विचार। भेद-बुद्धि इस जगत को खण्ड-खण्ड रूप में देखती है, जबकि अभेद-बुद्धि इसे अखण्ड रूप में देखती है। प्रत्येक साधक को यह विचार करना चाहिए कि इस भेद-बुद्धि से उसे कभी सुख और शान्ति मिलने वाली नहीं है। एकत्व में अनेकत्व की प्रतीति इसलिए होती है, क्योंकि यह आत्मा अनन्तकाल से पर्याय-बुद्धि में और भेद-बुद्धि में रहता आया है। अतः अपने इस वर्तमान जीवन में यदि वह अभेद में भेद को देखता है, तो यह उसके संस्कारों का दोष है।

जैन दर्शन के आचार्यों ने एक बहुत बड़ी बात कही है। उनका कथन है कि सम्यक् दर्शन वहाँ रहता है, जहाँ पर्याय-बुद्धि, भेद-बुद्धि और खण्ड-बुद्धि नहीं रहती। वस्तुतः द्रव्य बुद्धि और अभेद बुद्धि ही वास्तविक सम्यक् दर्शन है। इस अभेद-बुद्धि को समझना बहुत बड़ी बात है। जब तक यह अभेद-बुद्धि हमारे जीवन के कण-कण में रम न जाएगी, तब तक अध्यात्म-साधना सफल नहीं हो सकेगी। भेद में अभेद दर्शन करना ही अध्यात्म-जीवन की सर्वोच्च कला है।

इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण में उन प्राचीन आचार्यों ने यह बतलाया है कि किस प्रकार अभेद में भेद-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। एक कुम्भकार मिट्टी से घड़ा, ढक्कन, सुराही, सिकोरा और नाना प्रकार के खिलौने बना डालता है। मिट्टी एक ही है, किन्तु कुम्भकार अपने निमित्त के योग के उसको नाना आकारों में बदल देता है। जब मिट्टी के इन नाना रूप-विधान में अनेक वस्तुओं का निर्माण हम देखते हैं, तब हमें नानात्व की एवं अनेकत्व की प्रतीति होने लगती है। जैन दर्शन के अनुसार इसको भेद-बुद्धि और पर्याय-बुद्धि कहा जाता है।

परन्तु जरा विचार तो कीजिए, इन समस्त रूप-परिवर्तनों के पीछे एक ही तत्व है, मिट्टी। जिस प्रकार एक ही मिट्टी नाना रूप, आकार और प्रकारों को धारण करती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मवश होकर नाना योनियों को एवं विभिन्न स्थितियों को प्राप्त होती रहती है। एक ही आत्मा कभी नारक, कभी तिर्यञ्च, कभी मनुष्य और कभी देव बनती रही है। आत्मा के नाना रूप और पर्याय भेद-बुद्धि पर आश्रित हैं। अभेद-बुद्धि से विचार किया जाए, तो इन नाना आकारों और प्रकारों के पीछे एक ही सत्ता और एक ही शक्ति है, आत्मा। जिस प्रकार मिट्टी के नाना आकारों के पीछे, मूल रूप में मिट्टी एक ही है, उसी प्रकार आत्मा की नाना पर्यायों के पीछे मूल रूप में आत्मा एक ही है। संसार में जहाँ-जहाँ हमें नानात्व और अनेकत्व दृष्टिगोचर होता है, वह सब पर्याय का खेल है। पर्याय का जन्म भेद-बुद्धि से ही होता है।

एक बात और है, जब तक आत्मा में पर्याय दृष्टि विद्यमान है, तभी तक यह नानात्व दृष्टिगोचर होता है। पारिणामिक दृष्टि के जागृत होते ही नानात्व और अनेकत्व स्थिर

नहीं रह पाता। शरीर, मन और इन्द्रिय आदि के रहने पर भी दृष्टि में जब अभिन्नता आ जाती है, तब संसार का नानात्व खड़ा नहीं रह सकता।

यह तभी सम्भव होता है, जब लक्ष्य एवं दृष्टि आत्म-तत्त्व पर पहुँच जाती है। मिट्टी का ज्ञान करने के लिए मिट्टी के स्वभाव के पास पहुँचना पड़ता है और मिट्टी के स्वभाव के पास पहुँच जाने पर, मिट्टी के बने विभिन्न खिलौने, मिट्टी ही नजर आने लगते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही सत्य लागू पड़ता है। पशु, मनुष्य और देव का शरीर अथवा जीवन तभी तक नजर आता है, जब तक पर्याय-बुद्धि है।

परन्तु जब दृष्टि पर्याय से हट कर त्रिकाली परम पारिणामिक भाव रूप आत्मस्वभाव के निकट पहुँच जाती है, तब मालूम पड़ता है कि वह आत्मा न पशु है, न मनुष्य है, और न देव ही, आत्मा तो आत्मा है। जब आत्म-ज्ञान हो जाने पर नाना आकार-प्रकारों में आत्मा का ही परिबोध होता है, उस स्थिति में यह बाह्य संसार उदय भाव में रहने पर भी आपकी दृष्टि में उसका विनाश हो जाता है। जब आत्म-दृष्टि उदयभाव से हटकर पारिणामिक भाव में पहुँच जाती है, तब सदा और सर्वथा उसे आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है। जैन दर्शन के अनुसार यही द्रव्य दृष्टि और अभेद बुद्धि है। इसका परिज्ञान हो जाने पर संसार के रहते हुए भी उस साधक के लिए संसार नहीं रहने पाता, इसी को संसार का विनाश कहते हैं।

इस बाह्य जगत को छोड़कर जब हम आन्तरिक जगत पर विचार करते हैं तब हम जान पाते हैं, कि यह संसार क्षण में नष्ट हो जाता है और क्षणभर में ही फिर खड़ा हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि आसक्ति ही सबसे बड़ा संसार है। अनासक्ति ही संसार का विनाश है। जब साधक के मन में अनासक्ति भाव रहता है, तब बाह्य पदार्थों की सत्ता रहने पर भी वे साधक को पकड़ नहीं सकते।

इस दृष्टि से मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि आसक्ति ही संसार है और अनासक्ति ही संसार का अभाव एवं विनाश है। जब मनुष्य भोजन करता है, और जब मधुर एवं कटु पदार्थों को ग्रहण करता है, तब उसकी आत्मा का उपयोग यदि उसकी जिह्वा के साथ जुड़ जाता है, तो उसे स्वाद की अनुभूति होती है, परन्तु जब उपयोग का सम्बन्ध जिह्वा से नहीं रहता, तब पदार्थ का सेवन करते हुए भी उसमें रस की अनुभूति नहीं होने पाती।

इसका सीधा अर्थ यही हुआ, कि वस्तु का स्वभाव अर्थात् स्वाद नष्ट हो गया। यद्यपि उसका स्वभाव एवं स्वाद नष्ट तो नहीं हुआ, किन्तु वह खाने वाले की अनुभूति में नहीं रहा। क्यों कि उसकी आत्मा का उपयोग उसकी जिह्वा के साथ नहीं रहा। इसी प्रकार यदि अनुभूति में वह नहीं रहा, तो उसके होते हुए भी, वह नहीं रहा या नष्ट हो गया, यह कहा जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता, बल्कि उसका अनुभूति में न आना ही उसका अभाव है। जहाँ राग है, वहाँ वैराग्य नहीं रह सकता, जहाँ



आसक्ति है, वहाँ अनासक्ति नहीं रह सकती, यह एक निश्चित सिद्धान्त है। क्या कभी एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं? कभी नहीं।

प्रभु का मार्ग भी इतना संकरा है, कि उसमें आत्म-ज्ञान और संसार एक साथ नहीं रह सकते। उसमें भगवान और शैतान एक साथ नहीं रह सकते। यदि आपने अपने मन के सिंहासन पर रावण को बैठा लिया है, तो वहाँ राम के बैठने का स्थान नहीं रह सकता। एक ही सिंहासन पर राम और रावण दोनों नहीं बैठ सकते। मन के सिंहासन पर राम को बैठाने के लिए वहाँ से रावण को हटाना ही पड़ेगा। भला यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि अन्धकार और प्रकाश दोनों मित्र बन कर एक साथ चलते रहें। जब एक रहता है, तब दूसरा गायब हो जाता है। अन्धकार के रहने पर प्रकाश नहीं रहता और प्रकाश के आजाने पर अन्धकार नहीं ठहर सकता। आत्म-ज्ञान हो जाने पर संसार भाव नहीं होता और संसार के रहते हुए आत्म-भाव नहीं होता।

मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि संसार का विनाश अथवा विलोप, इसका अर्थ इतना ही है कि संसार के पदार्थों के प्रति आसक्ति हमारे मन में न रहे। संसार के जिस पदार्थ के प्रति हमारे मन में राग है, वह हमें सुख रूप प्रतीत होता है और संसार के जिस पदार्थ के प्रति हमारे मन में द्वेष रहता है, वह हमें दुःख रूप प्रतीत होता है, किन्तु संसार के जिस पदार्थ के प्रति हमारे मन में न किसी प्रकार का राग है और न किसी प्रकार का द्वेष है, वह पदार्थ हमें न सुख रूप होता है और न दुःख रूप होता है।

वस्तुतः इसी वीतराग स्थिति को अथवा वीतराग दशा को संसार का विनाश अथवा संसार का विलोप कहा जाता है। पदार्थ के रहते हुए भी उसकी सुख-दुःखात्मक प्रतीति न होना, जैनदर्शन के अनुसार इसी को संसार का अभाव कहा जाता है। जब पदार्थ का राग और द्वेष हमारे मन में नहीं है, तब वह पदार्थ हमारे मन में कैसे ठहर सकता है? और पदार्थ का मन में न ठहरना ही उस पदार्थ का अभाव या विनाश है।

जब आत्म स्वरूप की प्रतीति होती है, तब वह स्वभाव की ओर जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जब आत्मा विभाव से हट कर स्वभाव की ओर जाता है, तब संसार की स्थिति रह ही नहीं सकती है। वस्त्र में जब मैल जम जाता है, तब वस्त्र की धवलता दृष्टि में नहीं आती है। स्वच्छ रहने पर ही वस्त्र की धवलता दृष्टि में आती है। जब वस्त्र का मैल दूर हो जाता है, तब वस्त्र की धवलता की प्रतीति होती है, किन्तु उसके मैल की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार मैं आपसे कह रहा था, कि जब आत्मा में एकत्व आता है, तब अनेकत्व नहीं आता है। एक समय में दो में से कोई एक ही ध्यान में आ सकता है। जब आपकी बुद्धि एकत्व में स्थिर रहती है, तब उसमें अनेकत्व की तरंग नहीं उठ सकती और जब उसमें अनेकत्व की तरंग उठती है, तब उसमें एकत्वभाव स्थिर नहीं रहने पाता।

आपके सामने दो तत्व हैं—एक सृष्टि और दूसरी दृष्टि। सृष्टि का अर्थ है—संसार और दृष्टि का अर्थ है—विचार और विवेक। इन दोनों में से पहले किसको बदला जाए,

सृष्टि को अथवा दृष्टि को ? भारतीय धर्म और दर्शन में इस विषय पर बड़ी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। जैन दर्शन का कथन है, कि सृष्टि को बदलने का प्रयत्न मत करो। पहले दृष्टि को बदलो। यदि दृष्टि बदल जाती है, तो फिर सृष्टि के बदलने के लिए पृथक् प्रयास की आवश्यकता ही नहीं रहती।

जैन दर्शन का मूल संघर्ष सृष्टि के साथ नहीं है, संसार के साथ नहीं है, बल्कि दृष्टि और विचार के साथ है। यदि आपने अपनी विपरीत दृष्टि और विचार को नहीं बदला है, तो हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी संसार बदला नहीं जा सकता। आप जानते हैं कि भीष्म पितामह ने तथा विदुर जैसे पण्डित ने दुर्योधन को बदलने का कितना प्रयत्न किया था, किन्तु उसकी दृष्टि में बदलाव न आने के कारण भीष्म पितामह और अन्य नीतिज्ञ पुरुष दुर्योधन के संसार को बदल नहीं सके। दुर्योधन के जीवन के कण-कण में द्वेष-दृष्टि का जो विष व्याप्त था, उसको दूर किए बिना उसके बाह्य जीवन को बदलने के समग्र प्रयत्न निष्फल और व्यर्थ गए।

अतः जैन-दर्शन यह कहता है कि सृष्टि को बदलने से पूर्व दृष्टि को बदलो। यदि दृष्टि बदल जाती है, तो फिर शरीर, इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी हमारी अध्यात्म-साधना में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। मेरे विचार में मूल बात संसार को बदलने की नहीं है, बल्कि अपने मन को बदलने की है।

मैं आपसे कह रहा था कि जीवन में बाना बदलने का महत्व नहीं है, बड़ी बात है, बान बदलने की। आत्मा का स्वभाव अनन्तकाल से जैसा रहा है, अनन्तकाल तक वैसा ही रहेगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। शास्त्र में कहा गया है, कि पानी गरम होकर जब खौलने लगता है और हाथ डालने पर जब हाथ भी जलने लगता है, तब साधारणतया यह कह दिया जाता है, पानी आग हो गया है परन्तु वस्तु स्थिति यह है, कि पानी सदा पानी ही रहता है, वह कभी आग नहीं बनता। पानी न कभी आग बना है और न कभी भविष्य में बन ही सकेगा। बात वास्तव में यह है, कि अग्नि के संयोग से पानी में गरमी आ गई है। पानी की उष्णता की ओर जब ध्यान दिया जाता है, तब प्रतीत होता है, कि वह आग हो गया है। परन्तु पानी तो पानी ही है। जब तक अग्नि के स्वभाव को महत्व दिया जाता है, तब तक पानी को आग भले ही कहा जाए, परन्तु वह गरम पानी, गरम होने से पूर्व भी पानी ही था, गरम होने पर भी पानी है और आगे भी पानी ही रहेगा। यदि उस गरम पानी को भी आग पर डाला जाए, तो वह आग को बुझा डालेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि उष्णता के संयोग के बाद भी पानी का स्वभाव बदला नहीं, बल्कि वही रहा, जो उसका अपना स्वभाव था। अग्नि का संयोग होने पर भी जब वह आग के समान उष्ण हुआ, तब भी उसका मूल स्वभाव शीतलता ही था, अग्नि को बुझाने का ही था, अन्यथा वह आग को कैसे बुझा सकता था ? जब मूल स्वभाव पर दृष्टि दी जाती है, तब पानी गरम होने पर भी पानी ही है, परन्तु जब संयोगी भाव की ओर दृष्टि जाती है,

तब वह आग नजर आता है। किन्तु इस बात को ध्यान में रखिए कि अपने मूल स्वभाव से पानी सदा ही शीतल है और उस समय भी शीतल है, जबकि उसमें उष्णता का संयोग रहा है।

यही सिद्धान्त आत्मा के सम्बन्ध में भी है। जब आत्मा में उदयभाव की ओर दृष्टि रहती है, तब संसार खड़ा हो जाता है, किन्तु दृष्टि जब आत्मा के स्वभाव की ओर जाती है, तब आत्मा का बन्धन-मुक्त एवं अखण्ड स्वभाव सर्वत्र नजर आता है। उदयभाव की ओर देखने पर बन्ध नजर आता है और स्वरूप की ओर दृष्टि जाने पर आत्मा का विशुद्ध पारिणामिक भाव तथा चैतन्य स्वरूप दीख पड़ता है। जब-जब दृष्टि पारिणामिक भाव की ओर जाती है, तब-तब उदयभाव के रहते हुए भी आत्मा को उसके बन्ध रूप की प्रतीति नहीं होती है। यदि आप बन्ध को महत्व नहीं देना चाहेंगे, तो ज्ञान में उसका कोई महत्व नहीं रहेगा।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि सारा का सारा खेल दृष्टि का है। सबसे बड़ी बात यह देखना है कि आपकी दृष्टि क्या है? यदि आपकी दृष्टि विशुद्ध पारिणामिक भाव में है, तब संसार में कहीं पर भी आपको बन्धन नहीं है। इसके विपरीत यदि आपकी दृष्टि औदयिक भाव में अटकी हुई है, तो इस संसार में कदम-कदम पर सर्वत्र आपको बन्धन ही बन्धन मिलेंगे।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि यह संसार क्या है? उसका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा है, वह आपने सुना होगा और उसे समझने का प्रयत्न भी किया होगा। बात यह है कि सुनने को आप बहुत कुछ सुन लेते हैं, किन्तु उसके अनुसार जीवन को बनाने का प्रयत्न नहीं होता, इसलिए हमारा ज्ञान पोथी-पत्रों तक ही सीमित रह जाता है, वह जीवन की धरती पर उतर कर पनपने नहीं पाता।

मैंने आपसे अभी कहा था, कि संसार को बदलने का प्रयत्न मत कीजिए, प्रयत्न कीजिए, अपने मन को बदलने का। मन बदल गया तो सब कुछ बदल गया। यदि मन नहीं बदला, तो कुछ भी नहीं बदला। मन को बदलने का अर्थ है—बुद्धि को भेद से हटाकर अभेद की ओर लगाना, बुद्धि को अनेकत्व से हटाकर एकत्व की ओर ले जाना और आत्मा को औदयिक भाव से हटाकर पारिणामिक भाव में स्थिर करना। अपने स्वरूप को पाने का और संसार को नष्ट करने का इससे सुन्दर अन्य कोई मार्ग नहीं है। अपने स्वरूप में स्थिर हो जाने का अर्थ यही है, कि संसार-सागर से पार हो जाना।

संसार में जितने भी दुःख एवं क्लेश हैं, उन सबका आधार द्वैत-बुद्धि ही है। जब तक यह द्वैत बुद्धि दूर नहीं होगी, तब तक संसार का नाश नहीं होगा। द्वैत-बुद्धि का अर्थ है—वह बुद्धि, जिसमें अपने स्वरूप पर विश्वास न होकर पर-पदार्थ पर विश्वास होता है। यदि एक बार भी उस आनन्दमय चिदाकार अखण्ड ज्योति की अनुभूति करली जाए, जो अनादिकाल से उदय भाव के कारण ओझल थी, तो फिर एक क्षण में ही इस दुःखमय

संसार का विनाश हो सकता है। निश्चय ही एक बार सम्पूर्ण रूप से जब यह आत्मा औदयिक भाव से विमुक्त हो जाता है और अपने विशुद्ध पारिणामिक भाव में पहुँच जाता है, तब संसार का एक भी बन्धन इसमें रह नहीं सकता। जब-जब दृष्टि पारिणामिक भाव में रहती है, तब-तब हम मुक्ति में रहते हैं, और जब-जब दृष्टि उदयभाव में रहती है, तब-तब हम संसार में निवास करते हैं। जब हम शरीर में आत्मा का दर्शन करते हैं, तब हम देह-बुद्धि में रहते हैं, परन्तु जब स्व-स्वरूप में लीन हो जाते हैं, तब संसार के रहते हुए भी, यह संसार हमारे लिए ओझल हो जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि आत्मा के विशुद्ध ज्ञान में संसार का दुःख एवं क्लेश नहीं रहने पाता।



## ८. प्रमाण और तर्क

भारतीय न्याय-शास्त्र में प्रमाण और तर्क दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। लेकिन पाश्चात्य दर्शन में दोनों के अर्थ में कुछ भिन्नता भी है। प्रमाण-शास्त्र (Epistemology) ज्ञान और सत्य का शास्त्र है। उसकी समस्याएं किसी भी ज्ञान की प्रक्रिया में मूलभूत समस्याएं हैं। प्रमाण-शास्त्र किसी भी प्रकार के ज्ञान को मौलिक आधार प्रदान करता है। प्रमाण-शास्त्र में यह प्रश्न उठाया गया है, कि क्या ज्ञेय, ज्ञाता से पृथक् होता है, अथवा दोनों ही परस्पर संबन्धित हैं। प्रमाण-शास्त्र ज्ञान के विभिन्न साधनों पर तर्क-पूर्ण विचार करता है।

तर्क-शास्त्र (Logic) चिन्तन की विधियों अथवा निहित अर्थों का पता लगाने का विज्ञान है। वह विचार की संरचना का अध्ययन करता है। विचार क्या है? जगत से उसका क्या सम्बन्ध है? मन किसी समस्या को किस प्रकार से सुलझाता है? चिन्तन की स्वाभाविक विधि क्या है? परिभाषा, परिकल्पना, विभाजन और व्याख्या आदि क्या हैं? किसी वाक्य से क्या-क्या अर्थ और किस प्रकार निकाला जा सकता है। ये सब तर्क-शास्त्र की समस्याएं हैं। प्रमाण-शास्त्र के समान ही तर्क-शास्त्र भी भली प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति में मौलिक नियम भी प्रदान करता है, क्योंकि किसी भी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति में चिन्तन की आवश्यकता होती है, और चिन्तन की शुद्धि तथा अशुद्धि पर तर्क-शास्त्र विचार करता है। तर्क से बुद्धि का विकास होता है। तर्क से मनुष्य अनेक दोषों से बच जाता है। पदार्थ क्या है? कैसा है? क्यों है? अन्यथा क्यों नहीं हो सकता? इनका समाधान तर्क से होता है।

### न्याय-शास्त्र

पाश्चात्य विद्वान् जिसको तर्कशास्त्र कहते हैं, जिसको (Logic) कहते हैं, उसको भारतीय विद्वान् न्याय-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र कहते हैं। वस्तुतः अनुमान प्रमाण ही न्याय अथवा तर्क कहा जाता है। न्याय दर्शन में तर्क भी न्याय का ही एक अंग माना गया है। न्याय-शास्त्र तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानता। जैन न्याय में अवश्य ही तर्क को पाँच परोक्ष प्रमाणों में एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। भारतीय नैयायिकों ने अनुमान को प्रमाण स्वीकार किया है। बृहस्पति के अनुयायियों ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण कहा है, अनुमान को प्रमाण नहीं माना। वैदिक, जैन और बौद्ध, सभी ने इसको प्रमाण माना है, और प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने-अपने ढंग से अनुमान की विशद व्याख्या भी की है।

### अनुमान प्रमाण :

अनुमान ज्ञान का साधन अनुमान है। यह परोक्ष ज्ञान है, जो कि साध्य से अनिवार्य रूप से संबन्धित हेतु अथवा लिंग से होता है। अनुमान का आधार हेतु है। हेतु और साध्य का अनिवार्य सम्बन्ध है, इस संबन्ध को व्याप्ति कहते हैं। इसके द्वारा ही पक्षधर्मता का ज्ञान, परामर्श कहा जाता है। अतः अनुमान को परामर्शजन्य ज्ञान भी कहा गया है। अनुमान लिंग के द्वारा साध्य के पक्ष में उपस्थिति का ज्ञान है, जो कि पक्षधर्मता में है, और व्याप्ति से अनिवार्य रूप से संबन्धित है। जैसे कि पर्वत में अग्नि है, क्यों कि वहाँ धूम है, जहाँ पर धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार पाकशाला में है, यहाँ पर भी धूम है, अतः अग्नि अवश्य ही होनी चाहिए। क्यों कि धूम और अग्नि में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है।

भारतीय न्याय-शास्त्र के अनुसार अनुमान के कम से कम दो तथा तीन और पाँच अवयव होते हैं। दो हों, तो साध्य और हेतु। तीन हों, तो पक्ष, साध्य और हेतु। यदि पाँच हों, तो इस प्रकार होंगे—

- |                                    |                                  |
|------------------------------------|----------------------------------|
| १. प्रतिज्ञा—पर्वत में अग्नि है    | २. हेतु—क्योंकि पर्वत में धूम है |
| ३. दृष्टान्त—जैसे पाक शाला में     | ४. उपनय—इस पर्वत में धूम है      |
| ५. निगमन—अतः इस पर्वत में अग्नि है |                                  |

प्रयोजन के अनुसार अनुमान के दो भेद इस प्रकार से हैं—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थ अनुमान अपने लिए होता है। परार्थ अनुमान दूसरे को समझाने के लिए होता है। इसमें वाक्यों को क्रमबद्ध रूप में रखने की आवश्यकता है, इन पञ्च अवयव रूप वाक्य प्रयोग को न्याय-शास्त्र में न्याय कहा गया है।

### प्रकारान्तर से भेद :

व्याप्ति-स्थापन की दृष्टि से अनुमान के तीन भेद इस प्रकार हैं—

१. केवलान्वयि अनुमान—इसमें साधन और साध्य सदा साथ पाए जाते हैं। इसमें व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है, और इसमें व्यतिरेक बिल्कुल नहीं होता। जैसे कि—

सभी मनुष्य मरण-शील हैं

राम मनुष्य है

अतः राम मरण-शील है

इस अनुमान के पहले वाक्य में, उद्देश्य और विधेय के बीच व्याप्ति का सम्बन्ध स्पष्ट है।

२. केवल व्यतिरेकि अनुमान—इसमें अनुमान साधन और साध्य की अन्वय मूलक व्याप्ति से नहीं, बल्कि साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से होता है—

अन्य भूतों से जो भिन्न नहीं है, उसमें रूप नहीं है।

अग्नि में रूप है।

अतः अग्नि अन्य भूतों से भिन्न है।

इसमें, पहले वाक्य में, साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति स्पष्ट है। साधन रूप को पक्ष अग्नि के अतिरिक्त और कहीं देखना संभव नहीं है।

३. अन्वय-व्यतिरेकि अनुमान—इसमें, साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय तथा व्यतिरेक, दोनों के द्वारा स्थापित किया जाता है। जैसे कि—

जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है,

पर्वत में धूम है,

अतः पर्वत में अग्नि है।

जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम नहीं है,

पर्वत में धूम है,

अतः पर्वत में अग्नि है।

### अनुमान का लक्षण :

अनुमान का लक्षण इस प्रकार है—तृतीय लिंग परामर्शः अनुमानम्। इस अनुमान में, तीन बार लिंग का दर्शन होता है। पहली बार धूम चूल्हे में नजर पड़ा, दूसरी बार पर्वत में और तीसरी बार पर्वत में अग्नि से व्याप्त धूम नजर पड़ा। पञ्चावयव अनुमान को हम परम न्याय कहते हैं।

### पाश्चात्य अनुमान से तुलना :

भारतीय तथा पाश्चात्य अनुमान में विशेष अन्तर नहीं है, केवल वाक्य विन्यास में अन्तर है। वाक्यों के क्रम में अन्तर है। न्याय-शास्त्र और तर्क-शास्त्र में भी नाम का ही अन्तर है, परिणाम का अन्तर नहीं है। पाश्चात्य दर्शन में, तर्क-शास्त्र का प्रारम्भ अरस्तू से होता है। मनुष्य सदा वर्तमान तथ्यों के आधार पर अज्ञात तथ्यों का अनुमान करता है। अनुमान की यह स्वाभाविक विशेषता सबसे बड़ी शक्ति है। इसके ही कारण मनुष्य का व्यावहारिक जीवन सरल एवं सफल है। एक किसान को जैसे ही मेघ का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही वह वर्षा का अनुमान करके अपने खलिहान को समेटने लगता है। वर्षा के अभाव में अकाल का अनुमान करके, अपने संचित अन्न को नहीं बेचता है। अतएव यह अनुमान मनुष्य के जीवन का संबल है। अनुमान, भाषा में व्यक्त ज्ञाता की वह मानसिक क्रिया है, जिसमें वह ज्ञात तथ्यों अथवा तार्किक वाक्यों के आधार पर अनिवार्य रूप से अज्ञात तथ्यों अथवा तार्किक वाक्यों की ओर प्रस्थान करता है। ज्ञात से अज्ञात को जानता है। ज्ञान वाक्यों को आधार वाक्य (Premises) एवं उनसे अनिवार्य रूप में मिले हुए वाक्य को निष्कर्ष वाक्य (Conclusion) कहा जा सकता है।

### पाश्चात्य तर्क में अनुमान के भेद :

पाश्चात्य तर्क शास्त्र में अनुमान के दो भेद माने गए हैं—

१. आगमनात्मक (Inductive-Inference)

२. निगमनात्मक (Deductive-Inference)

१. आगमनात्मक अनुमान में, विशेष नियमों के आधार पर, सामान्य नियम की स्थापना करते हैं। कुछ से सबकी ओर जाते हैं। जैसे कि राम, श्याम, सीता एवं राधा आदि मनुष्यों को मरणशील देखकर, सामान्य नियम बनाते हैं, कि सभी मनुष्य मरणशील हैं।

२. निगमनात्मक अनुमान में, सामान्य नियम से विशेष नियम की ओर जाते हैं। सबसे कुछ की ओर जाते हैं। जैसे कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। सभी शिक्षक मनुष्य हैं। अतः सभी शिक्षक मरण-शील हैं। एक दूसरा उदाहरण भी देखिए—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,

श्याम मनुष्य है,

अतः श्याम मरण शील है।

पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में, अरस्तू (Aristotle) ने, जोसेफ (Joseph) ने और कांट (Kant) ने पर्याप्त लिखा है। इनके मत प्रामाणिक माने जाते रहे हैं। इनके अतिरिक्त मिल (Mill) ने तथा वेल्टन (Welton) आदि ने भी अपने ग्रन्थों में तर्क (Logic) पर काफी प्रकाश डाला है। पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में, मिल और कांट ने बहुत कुछ नया दिया है। दोनों के नाम विशेष रूप में उल्लेख योग्य हैं।





## १. नय और निक्षेप

जैन तर्क-शास्त्र में, प्रमाण, नय और निक्षेप का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रमाण का प्रतिपादन तो अन्यत्र भी उपलब्ध हो सकता है, किन्तु नय और निक्षेप का वर्णन तो जैसे दर्शन की अपनी मौलिक देन है। बौद्ध दर्शन में नय शब्द का उल्लेख भर तो मिलता है, पर उसका विशेष स्पष्टीकरण अथवा व्याख्या नहीं की गई। वैदिक दर्शनों में नय शब्द से तो नहीं, लेकिन भाव से, अभिप्राय से नयों जैसा वर्णन मिल सकता है।

वेदान्त सम्प्रदायों में, एक ही ब्रह्म-सूत्र को लेकर ८-१० व्याख्याएँ की हैं। जैसे कि अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि। यह क्या है? यह भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। एक ही ब्रह्मतत्व को किसी ने अद्वैत कहा, किसी ने द्वैत माना और किसी ने द्वैत एवं अद्वैत कहा। यह अपेक्षाभेद ही तो नय हो जाता है। लेकिन यह अपेक्षा भेद किसी के द्वारा भी विकसित नहीं हो सका। एकान्त दृष्टि होने से अनेकान्त नहीं बन सका। जहाँ अनेकान्त होता है, वहीं पर नय की आवश्यकता होती है। वैसा कुछ भी वैदिक सम्प्रदायों में नहीं हो सका। बीज था, लेकिन उसका विकास नहीं। जैन दर्शन में वह बीज अपने पूर्ण विकास पर जा पहुँचा। अतः प्रत्येक जैन दार्शनिक के लिए नयों की व्याख्या अनिवार्य थी।

निक्षेप के सम्बन्ध में बात कुछ भिन्न है। निक्षेप का प्रयोग जैन दर्शन की अपेक्षा, जैन आगमों में बहुलता से हुआ है। इसकी विशेष व्याख्या, आगमों की अपेक्षा भी उनके व्याख्या-ग्रन्थ-निर्युक्ति तथा भाष्यों में की है। निक्षेप तर्क-शास्त्र का विषय न था, परन्तु उपाध्याय यशोविजय ने इसे तर्क-शास्त्र में, सम्मानपूर्ण स्थान दिया था। अपने ग्रन्थ जैन-तर्क-भाषा में तो उसे प्रमाण और नय की भाँति ही आवश्यक माना गया है। अकलंक देव ने भी अपने ग्रन्थ लघीयस्त्रय में तीन विभाग रखे हैं—प्रमाण, नय और निक्षेप। अतः निक्षेप तर्क-युग में प्रवेश पा चुका था। वस्तु-तत्त्व का विवेचन करने के लिए निक्षेप का प्रयोग आवश्यक होता है। नय की भाँति निक्षेप भी जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट देन ही है, जो अन्यत्र नहीं है, और यदि है, तो स्पष्ट नहीं है। निक्षेप नाम से भी नहीं है। लेकिन अन्य दर्शनों में, इसकी स्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जहाँ शब्द और अर्थ पर, उसके संबन्ध पर विचार होगा, वहाँ निक्षेप होगा ही।

शब्द का अर्थ करने पर निक्षेप की आवश्यकता होती है। शब्द वाचक है, और अर्थ वाच्य है। बिना संबन्ध के शब्द अपना अर्थ कैसे व्यक्त कर सकता है? किस प्रसंग पर किस शब्द का क्या अर्थ लेना, यह निक्षेप का कार्य-क्षेत्र है। इसके सम्बन्ध में, व्याकरणकार, साहित्यकार और दार्शनिक तथा नैयायिकों ने अपने-अपने ढंग से विचार

किया है। वैयाकरणों का स्फोट, साहित्यिकों की वृत्ति अथवा शब्द शक्ति, बौद्धों का अपोह, मीमांसकों की जाति, नैयायिकों का सकेत ग्रह—ये सब निक्षेप के ही विभिन्न रूप रहे हैं।

## शब्द विज्ञान

पाश्चात्य दर्शन में शब्द और अर्थ पर विचार किया गया है। पाश्चात्य दर्शन का यह एक नूतन विचार है, जो शब्द-विज्ञान के नाम पर प्रचार एवं प्रसार पा रहा है। यह शब्द विज्ञान क्या वस्तु है? इसके उत्तर में, यही कहा जा सकता है, कि वाचक और वाच्य के सम्बन्ध की व्याख्या करने की एक पद्धति।

शब्द-विज्ञान (Semantics) जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, शब्दों के अर्थ और जिन वस्तुओं को वे इंगित करते हैं उनसे उनके संबन्ध पर विचार करता है। दूसरे शब्दों में, यह भाषा के अर्थ का विज्ञान है। इसमें, भाषा में पाए जाने वाले विभिन्न शब्दों, प्रतीकों, चिन्ह तथा संकेतों आदि के कार्य का विश्लेषण किया जाता है, और उनके अर्थ निश्चित किए जाते हैं। अतः प्रमाण-शास्त्र और तर्क-शास्त्र के समान, शब्द-विज्ञान भी किसी भी प्रकार की ज्ञान-साधना में, अत्यन्त आवश्यक है। समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक सम्प्रदायों में तार्किक-भाववाद (Logical Positivism) नामक सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने शब्द विज्ञान की समस्याओं को दर्शन की मुख्य समस्याएँ माना है। (Logical-Positivism) शब्द-विज्ञान (Semantics) समकालीन दार्शनिक सम्प्रदाय तार्किक भाववाद (Logical-Positivism) के अनुसार दर्शन की सबसे अधिक मुख्य शाखा शब्द-विज्ञान है। इसमें जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है, विभिन्न शब्दों के अर्थों का विवेचन किया जाता है। विज्ञान का अर्थ होता है, किसी विषय का विशेष ज्ञान। शब्द-विज्ञान, शब्दों का विशेष परिज्ञान कराने वाला शास्त्र है।



## १०. भाषा-विज्ञान और व्याकरण

भाषा विज्ञान का संबन्ध व्याकरण से है, और व्याकरण का भाषा विज्ञान से। व्याकरण-ग्रन्थों में, अष्टाध्यायी का गौरव-पूर्ण स्थान माना गया है। यह ग्रन्थ महान् वैयाकरण पाणिनि की अमर रचना है। अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से लिखा गया है। पाणिनि का समय पाँचवीं शती ईसा पूर्व के मध्य में है। कुछ इतिहासकार विद्वान् पाणिनि का समय ८०० ईसा पूर्व से ३०० ईसा पूर्व के मध्य में स्वीकार करते हैं।

### अष्टाध्यायी :

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, और प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। लगभग चार हजार सूत्र हैं। पाणिनि ने शब्द रूपों और धातु रूपों का अति सूक्ष्मता के साथ प्रकृति के और प्रत्यय के रूप में विश्लेषण किया है। पाणिनि ने धातु-पाठ, गण-पाठ और उणादि सूत्र भी लिखे हैं। अष्टाध्यायी विश्व का एक आदर्शभूत व्याकरण ग्रन्थ है। परिभाषाओं से परिपूर्ण है। इसकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. सभी शब्दों को धातुओं पर आधारित किया है। धातु किसी क्रिया का भाव प्रकट करती है। इन्हीं से उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि की सहायता से अनेक शब्द बना लिए जाते हैं।

२. भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से हुआ है, इसका भी प्रथम उल्लेख यहीं है। इसके अनुसार भाषा में वाक्य ही प्रधान है।

३. यास्क के नाम एवं आख्यात आदि चार भेदों को स्वीकार न करके पाणिनि ने समस्त शब्दों को सुबन्त तिङन्त—इन दो विभागों में विभक्त किया है। आज तक विश्व में शब्द के जितने भी विभाजन किए गए हैं, उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है। पाश्चात्य विद्वानों के आठ भेद (Eight Parts of Speech) भी इसके समकक्ष एवं समक्ष नहीं ठहर पाते हैं।

४. ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण जो इस में है, वह विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

५. लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी इसकी सबसे बड़ी अपनी विशेषता है।

### आगम का स्वरूप :

आगम का अर्थ सिद्धान्त होता है, धर्म-शास्त्र को भी आगम कहा गया है। जैन परम्परा में, आगम का अर्थ धर्मशास्त्र, तीर्थंकर वाणी और सिद्धान्त किया जाता है,

लेकिन व्याकरण-शास्त्र में आगम से अभिप्राय, इन सबसे अतिरिक्त होता है। यहाँ आगम का अभिप्राय है, कि जब किसी शब्द में कोई अक्षर बाहर से आकर जुड़ जाए तो उसे व्याकरण-शास्त्र में आगम कहा गया है। आगम स्वरों में भी होता है, और व्यञ्जनों में भी होता है। यहाँ तक कि पूरा स्वर तथा पूरा व्यञ्जन भी नया ही आ जाता है।

### आगम के भेद :

आगम के अनेक भेद होते हैं, लेकिन उसमें तीन भेद मुख्य हैं—स्वर आगम, व्यञ्जन आगम और अक्षर आगम। आगम ध्वनि-परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, उसका विपरीत है, लोप का सिद्धान्त। आगम का कारण है, मुख-सुख अर्थात् उच्चारण की सुविधा। आगम का दूसरा कारण है, उपमान अथवा सादृश्य, जिसके आधार पर ध्वनियों का आगम होता है। कविता में मात्रिक छन्दों में, मात्रा की पूर्ति के लिए वर्णागम होता है। जैसे कि कृपाला, दयाला आदि में 'आ' का आगम। स्वरागम जैसे कि कृष्णा से कसणा, भक्त से भगत, इन्द्र से इन्दर और प्रसाद से परसाद आदि। व्यञ्जनागम जैसे कि उल्लास से हुलास, अंसली से हंसली और अस्थि से हड्डी आदि। अक्षरागम जैसे कि कल्लस से चकल्लस, स्फोट से विस्फोट, अमूल्य से अनमोल, वधू से वधूटी, मुख से मुखड़ा, डफ से डफली, जीभ से जीभड़ी आदि।

### निरुक्त में शब्दार्थ विचार

वैदिक साहित्य का सुन्दर तथा सार्थक अर्थ प्रतिपादित करने में वेदांगों का महत्व-पूर्ण स्थान है। वेदांगों में भी निरुक्त महत्वपूर्ण माना गया है। क्योंकि वैदिक शब्दों के अर्थ करने में निरुक्त का अध्ययन परम आवश्यक है। इसके बिना शब्दों का यथार्थ अर्थ समझना कठिन है। निरु उपसर्ग पूर्वक उक्त, विशेष रूप से कथन करना ही निरुक्त कहा गया है। वेद के शब्दों का अर्थ करने के लिए कोषों की भी रचना की थी, ये निघण्टु नाम से प्रसिद्ध हैं। निघण्टु शब्द वैदिक कोष के अर्थ में रूढ़ है। लेकिन शब्दों का अर्थ जानना ही पर्याप्त नहीं होता, उनकी व्युत्पत्ति को समझना भी आवश्यक था, जिसकी पूर्ति निरुक्त करता है। निरुक्त अथवा निरुक्ति के पाँच भेद होते हैं—

- |                    |                  |
|--------------------|------------------|
| १. वर्णागम:        | २. वर्ण-विपर्यय: |
| ३. वर्ण-विकार:     | ४. वर्ण-नाश:     |
| ५. धात्वर्थ-संबन्ध |                  |

कहीं पर शब्दों में आगम होता है, कहीं विपर्यय, कहीं विकार, कहीं लोप और घातु के अर्थ का सम्बन्ध।

### जैन परम्परा में पञ्चांगी

वेद के षड् अंग होते हैं, और जैन आगम के पाँच अंग होते हैं। अतः जैन आगम को पञ्चांगी कहा जाता है। ये पाँच अंग हैं—मूल आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और संस्कृत

टीकाएँ। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय होते हैं। चूर्ण गद्य-पद्यमय और टीका गद्यमय हैं। मूल आगमों के गहन-गम्भीर भावों को समझने के लिए निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और टीकाओं का अध्ययन आवश्यक माना गया है। तभी यथार्थ अर्थ होता है।

**निर्युक्ति अथवा निरुक्ति :**

दोनों का एक ही अर्थ है—शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके संभवित सभी अर्थों का कथन करना। उसके अधिक से अधिक अर्थ करना। कम से कम चार अर्थ तो अवश्य ही करना चाहिए। इस प्रक्रिया को निक्षेप कहा गया है।

**निर्युक्ति और निक्षेप :**

निर्युक्ति आगमों की प्रथम व्याख्या है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु हैं। वर्तमान में १०-१२ आगमों पर निर्युक्ति व्याख्या उपलब्ध है। इनमें आगमों के शब्दों की निरुक्ति की है, और निक्षेप के आधार पर, अथवा निक्षेप पद्धति से शब्दों के अर्थ किए गए हैं। मूल सूत्रों में जो अर्थ सुप्त हैं, उनको जागृत किया गया है। शब्दों का अर्थ विस्तार बिना निक्षेप के सम्भव नहीं है। किस प्रसंग पर, किस शब्द का क्या अर्थ हो सकता है? और उसका प्रयोग कैसे किया जाता है? यही निर्युक्तियों का मुख्य विषय रहा है। निर्युक्ति, निर्यूहणा तथा निरुक्ति एवं निरुक्त—ये समानार्थक शब्द रहे हैं। निक्षेप पद्धति का अभिप्राय है, शब्दों के अर्थ का विस्तार तथा संकोच।



## ११. भाषा-विज्ञान में शब्दार्थ विचार

भाषा-विज्ञान, भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित है। यह भाषा की प्रकृति, विकृति और परिष्कृति से उस प्रकार संबद्ध नहीं, जैसे व्याकरण है। व्याकरण, भाषा वैज्ञानिक के लिए अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान संकलित सामग्री के आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत करके वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालकर, भाषा विज्ञान के सिद्धान्त अथवा नियमों का निरूपण करता है। इस प्रकार भाषा विज्ञान विश्लेषण और सिद्धान्त निरूपण की पद्धति से आगे बढ़ता है। भाषा विज्ञान का सीधा अर्थ है, भाषा का विज्ञान, और विज्ञान का अर्थ है, विशिष्ट ज्ञान। भाषा विज्ञान, भाषा का विशिष्ट ज्ञान है। इसमें भाषा सम्बन्धी सभी प्रकार की विशेषताओं का वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण किया जाता है। भाषा विज्ञान के प्रधान अंग इस प्रकार हैं—

१. वाक्य विज्ञान (Syntax)
२. रूप विज्ञान (Morphology)
३. ध्वनि विज्ञान (Phonetics)
४. अर्थ विज्ञान (Semantics)

इन प्रमुख शाखाओं के अतिरिक्त भाषा विज्ञान में, भाषा की उत्पत्ति, भाषाओं का वर्गीकरण, भाषिक भूगोल, भाषा काल-क्रम विज्ञान, लिपि विज्ञान, मनो भाषा विज्ञान, समाज विज्ञान, शैली विज्ञान और भू-भाषा विज्ञान आदि का भी अध्ययन किया जाता है।

(क) वाक्य-विज्ञान—इसमें वाक्यों का स्वरूप, वाक्यों का परस्पर संबन्ध, शब्द एवं पदों का परस्पर सम्बन्ध, और क्रम आदि का वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाता है। वाक्य विज्ञान में, व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक है।

(ख) रूप-विज्ञान—रूप विज्ञान का सम्बन्ध वाक्यों को बनाने वाले शब्दों एवं पदों के स्वरूप अथवा रचना के अध्ययन से है। इसको पद विज्ञान भी कहते हैं। पद विज्ञान के अन्तर्गत प्रकृति तथा प्रत्यय आदि भाषा का रूपात्मक विवेचन रहता है।

(ग) ध्वनि-विज्ञान—ध्वनि विज्ञान के तीन विभाग होते हैं—

१. ध्वनि यन्त्रों का अध्ययन
२. ध्वनियों का अध्ययन
३. ध्वनियों के परिवर्तन के नियमों का अध्ययन

(घ) अर्थ-विज्ञान—अर्थ-विज्ञान का स्वरूप विवेचन करते हुए डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है, कि “अर्थति, इति अर्थः शब्द-प्रयोगः।” शब्द का प्रयोग अर्थ को प्रकट करने के लिए ही किया जाता है। भाषा के संबन्ध में मौलिक सिद्धान्त है। अर्थ-विज्ञान का विषय उसी अर्थ के सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति से विचार करना है। शब्द और अर्थ का क्या संबन्ध है? शब्दार्थ में प्रकृति एवं प्रत्यय आदि क्या सहायता करते हैं? शब्दों के अर्थ में परिवर्तन कैसे हो जाते हैं? इस प्रकार की अर्थ विषयक समस्त जिज्ञासा का समाधान,

अर्थ-विज्ञान द्वारा ही हो सकता है। देश-भेद और काल-भेद से एक ही शब्द के अर्थ में होने वाले परिवर्तन को ठीक से समझने के लिए अर्थ-विज्ञान का अध्ययन परम आवश्यक है। भाषा के तीन प्रमुख अंग हैं—ध्वनि, रूप और अर्थ। इन सभी में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ध्वनि-विकार, रूप विकार और अर्थ विकार भाषा परिवर्तन के रूप हैं।

### अर्थ परिवर्तन के सिद्धान्त :

अर्थ परिवर्तन के तीन सिद्धान्त हैं—अर्थ विस्तार, अर्थ संकोच और अर्थदिश। अर्थ विकास के मूल में लक्षणा वृत्ति काम करती है। शब्द के मुख्य अर्थ में जब भी कोई परिवर्तन होगा, वह लक्षणा के कारण ही, जब तक लक्षणा का आधार नहीं मिलता, तब तक परिवर्तन नहीं हो सकता। व्यञ्जना से भी विस्तार होता है। एक शब्द के अनेक अर्थ निकलते हैं।

### अर्थ-विस्तार :

शब्दों के अर्थ का विस्तार होता है। उनका मौलिक अर्थ बना रहता है, और उसका विस्तार हो जाता है। जैसे कि तेल शब्द है। इसका सम्बन्ध तिल से है। तिल से निकले रस को मूलतः तेल कहते हैं। यह तेल शब्द धीरे-धीरे विस्तार पाता रहा। सरसों, अलसी, जैतून और मूंगफली—इनके रस को भी तेल कहा जाने लगा। मिट्टी के रस को भी तेल कहा जाने लगा। इस प्रकार विशिष्ट अर्थ में, सामान्य अर्थ की स्थापना का अर्थ-विस्तार हो गया है।

### अर्थ-संकोच :

अर्थ-संकोच का अभिप्राय है, शब्द का दुबला हो जाना। भाषा के विकास में अर्थ-संकोच का बहुत ही महत्व-पूर्ण स्थान है। अर्थ-संकोच के कारण किसी शब्द का प्रयोग सामान्य या विस्तृत अर्थ से हटकर विशिष्ट अथवा सीमित अर्थ में होने लगता है। जैसे कि गो शब्द गम् धातु से संबद्ध होने के कारण गमन करने वाले के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था, किन्तु अब उसका प्रयोग केवल गाय के लिए ही होता है। यह अर्थ-संकोच का एक उदाहरण है। अन्य शब्द भी इस प्रकार के हो सकते हैं। जैसे कि वर शब्द है, जिसका अर्थ है, जो मांगा जाए। लेकिन आज इसका प्रयोग दूल्हा, अर्थ में होता है।

### अर्थदिश का अर्थान्तर :

इसमें अर्थ का विस्तार एवं संकोच न होकर, बिल्कुल परिवर्तन हो जाता है। एक शब्द पहले किसी दूसरी वस्तु का वाचक होता है, और बाद में दूसरी वस्तु का वाचक बन जाता है। वेद में असुर शब्द देवता वाचक था, बाद में दैत्य का वाचक बन गया। आकाश-चाणी का अर्थ पहले देव-चाणी था, अब रेडियो केन्द्र हो गया है। उपवास शब्द का मौलिक अर्थ यजमान का अग्नि के पास रहना होता था, अब नया अर्थ अनशन एवं अनाहार हो गया। उपेक्षा शब्द का अर्थ मौलिक रूप में, पास से देखना था, और नया अर्थ उदासीनता हो गया है। इस प्रकार से अर्थदिश के अन्य हजारों उदाहरण हो सकते हैं। ■





अध्यात्म-प्रवचन  
आचार-मीमांसा

## १. आचार-मीमांसा

संसार के समस्त धर्म सम्प्रदायों ने अपने-अपने शास्त्र के अनुसार, आचार, चारित्र्य तथा व्रत, नियम और संयम को स्वीकार किया है। भारत के तीन प्रसिद्ध धर्म हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। शेष समस्त सम्प्रदायों का तीन में समावेश हो जाता है। एशिया के अन्य धर्मों में चीन का कन्फ्यूसियस धर्म, जापान का शिन्तो धर्म और ईरान का पारसी धर्म भी आचार-संहिता को मानता है। अरबियन धर्म तीन हैं—यहूदी, ईसाई और इस्लाम। ये तीनों भी अपनी-अपनी आचार-संहिता का अनुपालन करते हैं। अरबियन लोग भी अपने मनोनीत आचार का पालन करते हैं। मानव-मात्र किसी न किसी धर्म को किसी न किसी रूप में मानते हैं। अपने विचार के अनुरूप उनका आचार भी होता है। क्योंकि धर्म विश्वास करने भर की वस्तु नहीं है, तदनु रूप आचरण भी किया जाता है। धर्म हो, और आचरण न हो, यह तो सम्भव ही नहीं है।

मनुष्य मही मण्डल पर कहीं पर भी रहता है, धर्म के बिना उसका जीवन चल नहीं सकता। मनुष्य जीवन की आवश्यकता—रोटी, कपड़ा और मकान भर नहीं हो सकती। इनसे आगे और उच्चतर भी बहुत शेष रह जाता है। रोटी से भरा पेट, कपड़ों से सजा शरीर, तथा सरदी, गरमी और बरसात से बचाने वाले मकान में रहकर भी मनुष्य असन्तुलित एवं असंतुष्ट देखा जाता है। अतः जीवन का उच्चतर आदर्श उसे ऊपर उठने की प्रेरणा प्रदान करता है। मनुष्य उसको पाने का प्रयत्न सतत करता रहता है। क्या है, वह उच्चतर ध्येय ? जिसको प्राप्त करने के लिए मनुष्य जाति सादा से व्यग्र रही है ? वह है, अमरता। मिटने की आकांक्षा किसी के भी अन्तर् में नहीं होती। अपनी सत्ता सबको प्रियतर है, मधुरतर है, सुन्दरतर है। सत्ता शाश्वत रहे, यही है, अमरता। मनुष्य अमर होना चाहता है।

भारत के ऋषि, मुनि और संन्यासियों ने इस अमरता तथा सत्ता की शाश्वतता को मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण की संज्ञा प्रदान की है। उसके तीन साधन हैं—विश्वास, विचार और आचार। विश्वास उतरता है, विचार में और विचार बनता है, आचार में। व्यावहारिक जीवन में भी इन तीनों की आवश्यकता है; अन्यथा तो व्यक्ति बिखर जाएगा। परिवार बन न सकेगा। समाज की सत्ता ही नहीं रहेगी। बीज नहीं तो अंकुर कैसा ? अंकुर नहीं, तो वृक्ष कैसा ? वृक्ष नहीं तो फल कैसा ? फल के अभाव में रस की निष्पत्ति कहाँ पर हो ? अतः जीवन की उच्चतर साध्य-सिद्धि के लिए ही नहीं, व्यवहार-जीवन को सुखद बनाने के लिए भी विश्वास, विचार और आचार की परम आवश्यकता है।

परम साध्य मोक्ष की सिद्धि के लिए वेद के उद्गाता ऋषि ने तीन साधन बतलाएँ हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। उपनिषद् तथा गीता में यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। गीता का सारा सार इन तीन तत्वों में समा गया है। शेष सब उस का ही विस्तार अथवा संक्षेप होता गया है।

तथागत बुद्ध ने कहा—जीवन के उच्चतर लक्ष्य निर्वाण को पाने का रास्ता एक ही है—प्रज्ञा, शील और समाधि। निर्वाण के ये तीनों अचूक साधन हैं। प्रज्ञा का अर्थ है, दृष्टि। शील का अर्थ है, सदाचार और समाधि का अर्थ है, संकल्प।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने कहा—संसार का विपक्ष मोक्ष है, उसे प्राप्त करने के उपाय तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन तीनों के समन्वय से शाश्वत सुख मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इन तीन में तप को मिला देने से मोक्ष मार्ग चार हो जाते हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप। भगवान् महावीर ने चारों के समुदाय को मोक्ष-मार्ग कहा है। मार्ग का अर्थ है—उपाय एवं साधन। इन साधनों में एक साधन, चारित्र एवं आचार है।

### आचार की परिभाषा

जैनधर्म में आचार, चारित्र और व्रत को जीवन विकास का अनन्य कारण माना गया है। पञ्च आचार, पञ्च चारित्र और पञ्च अणुव्रत तथा पञ्च महाव्रतों का प्रतिपादन किया गया है। स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान में दो प्रकार के धर्मों का कथन उपलब्ध होता है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। चारित्र धर्म के दो प्रकार हैं—सागार धर्म और अनगार धर्म। श्रावक का आचार और श्रमण का आचार। पञ्च आचार और पञ्च चारित्र का कथन श्रमण की अपेक्षा से किया गया है। महाव्रतों का विधान भी श्रमण के लिए होता है। श्रावक के लिए पञ्च अणुव्रतों का विधान है।

### सम्यग्दर्शन :

आत्म-विकास के क्रम में, श्रावक का स्थान, चतुर्थ गुणस्थान माना गया है। इसके पूर्व के तीन गुणस्थानों में मिथ्या दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि चतुर्थ गुणस्थान में होती है। साधक के जीवन में ज्ञान और आचरण की अपेक्षा भी प्रथम स्थान श्रद्धान का होता है। क्योंकि श्रद्धान-रहित जीवन में न ज्ञान होता है, और न आचरण। यदि ज्ञान एवं आचरण होता भी है तो वह मिथ्या होता है। ज्ञान और आचरण से पूर्व देव, गुरु और धर्म में अडिग एवं अचल श्रद्धान परम आवश्यक है। आप्त, आगम और आज्ञा में अटूट विश्वास होना चाहिए। जीव तथा अजीव आदि तत्वों पर भी श्रद्धा, आस्था तथा निष्ठा ही सम्यग्दर्शन है।

### सम्यग्ज्ञान :

सम्यग्ज्ञान का अर्थ है—आत्म-बोध। स्व को और पर को समझना, सम्यग्ज्ञान होता है। ज्ञान पाँच प्रकार का है। जिससे पदार्थों का बोध हो, वह ज्ञान है। जो जीव को और

अजीव को नहीं जान पाता, वह चारित्र का परिपालन कैसे कर सकता है? श्रुत ज्ञान से ही पदार्थों का परिज्ञान हो सकता है। अतः संयम के पालन के लिए श्रुत ज्ञान का होना परम आवश्यक माना गया है। संसार क्या है? मोक्ष क्या है? बन्ध, आम्लव, संवर तथा निर्जरा क्या है? यह बोध भी श्रुत के द्वारा ही होता है।

### सम्यक्चारित्र :

सम्यक्चारित्र का प्रारम्भ पञ्चम गुणस्थान से होता है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु सम्यक्चारित्र नहीं होता। अतः श्रावक के दो भेद हैं—व्रती और अव्रती। जिसके किसी प्रकार का व्रत न हो, वह अव्रती होता है। जिसके किसी प्रकार का व्रत हो, वह व्रती होता है। श्रावक को देशव्रती अथवा अणुव्रती कहा गया है। व्रती कौन हो सकता है? जिसके किसी प्रकार का शल्य न हो। शल्य के तीन प्रकार हैं—माया, निदान और मिथ्यात्व। जैसे पैर में काँटा लग जाने पर मनुष्य यात्रा नहीं कर सकता है, वैसे ही साधक तीन शल्यों के कारण संयम की साधना नहीं कर सकता। अतः व्रती को शल्य-शून्य होना चाहिए।

### श्रावक के भेद :

श्रावक के तीन भेद होते हैं—सम्यग्दृष्टि, द्वादश व्रती और प्रतिमा-धारक। दिगम्बर परंपरा में श्रावक के अन्य प्रकार से भी तीन भेद होते हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। पाक्षिक वह होता है, जो श्रावक के द्वादश व्रतों का निर्दोष पालन करता है। नैष्ठिक वह कहा जाता है, जो श्रावक की एकादश प्रतिमाओं की निर्दोष एवं यथाविधि आराधना करता है। साधक वह होता है, जो आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके जीवन और मरण में निराकांक्ष होकर, जीवन के अन्त में सल्लेखना व्रत की सम्यक् साधना करता है। एक अन्य आचार्य के अनुसार श्रावक वह होता है, जिसमें तीन गुण अवश्य हों। तीन गुण इस प्रकार हैं—श्रद्धा, विवेक और कर्तव्य पालन। श्रावक विवेक-शील होता है।

### आचार का आधार

जैन आचार कर्मवाद पर आधारित है। कर्मवाद का आधार, आत्मवाद है। आत्मवाद का प्राण तत्व है—अहिंसा, अपरिग्रह और अनाग्रह अर्थात् अनेकान्त। जैन परम्परा के आचार-शास्त्र में, चारित्र-विकास की अनेक पद्धतियाँ तथा अनेक अवस्थाएँ हैं। आत्म-विकास की अर्थात् आत्म-गुणों के विकास की अवस्थाओं को गुणस्थान कहा गया है। गुणस्थानों का निरूपण और उनका क्रमिक विकास, मोह-शक्ति की प्रबलता तथा क्षीणता के आधार पर किया गया है। योगमूलक दृष्टि से भी आचार पर विचार किया गया है। अतः कर्म, अध्यात्म और योग—इन तीनों के आधार पर जैन आचार की व्याख्या की जाती है। कर्म, गुणस्थान और योग—इन पर आचार का प्रासाद खड़ा हुआ है।

आचार एक होने पर भी उसका पालन करने वाले व्यक्ति दो हैं—श्रावक और श्रमण। अतः आचार दो प्रकार का है—श्रावकाचार तथा श्रमणाचार। सागार धर्म तथा अनगार

धर्म। वर्णाचार और आश्रमाचार, जैन संस्कृति में मान्य नहीं है। क्योंकि किसी भी वर्ण का और किसी भी आश्रम में स्थित व्यक्ति श्रावक के व्रत तथा श्रमण के व्रत ग्रहण करने में स्वतन्त्र है। उसे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है।

श्रावक के अणुव्रत होते हैं। श्रमण के महाव्रत होते हैं। अणुव्रत को देशविरति और महाव्रत को सर्वविरति भी कहते हैं। श्रावक का व्रत सागार अर्थात् आगार सहित होता है। श्रमण का व्रत अनगार आगार रहित होता है। श्रावक समस्त बन्धनों से विमुक्त नहीं हो पाता। क्योंकि उसके साथ परिवार है, परिजन हैं, समाज है और राष्ट्र है। उसे इनके प्रति कर्तव्यों का पालन करना होता है। श्रमण घर-बार के समस्त बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। वह आत्म-साधना में तल्लीन रहता है। आत्म-चिन्तन में एकाग्र होकर रहता है।

### श्रावकाचार

श्रावक के दो भेद हैं—सम्यग्दृष्टि और देशव्रती। श्रावक को उपासक, श्रमणोपासक, अणुव्रती, देशव्रती और गृहस्थ साधक कहते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से वह चतुर्थ गुणस्थान स्थित तथा पञ्चम गुणस्थान स्थित होता है। वह श्रद्धापूर्वक श्रमणों से निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करने से श्रावक कहा गया है। श्रमणों का अनुगमन करने से श्रमणोपासक कहा जाता है। अपूर्ण चारित्र का पालन करने से देशव्रती कहलाता है। लघु व्रतों का पालन करने से अणुव्रती कहा गया है। देश-विरत और देश-संयमी भी कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान स्थित अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक कहा गया है। क्योंकि वह आगार में अर्थात् घर में रहता है। अतः उसकी गृहस्थ संज्ञा भी है। उसके व्रत-नियम-संयम में कुछ छूट होने से वह सागार कहा गया है। श्रावकाचार के ग्रन्थों में, उपासक धर्म का कथन तीन प्रकार से किया जाता है—

१. द्वादश व्रतों के आधार पर।
२. एकादश प्रतिमाओं के आधार पर।
३. पक्ष, चर्या एवं आस्था के आधार पर।

उपासक-दशांग सूत्र में, तत्त्वार्थ-सूत्र में और रत्न-करण्ड श्रावकाचार में, सम्यक्त्व-पूर्वक तथा संलेखना-सहित द्वादश व्रतों के आधार पर श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्र-प्राभृत में, स्वामी कार्तिकेय के अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में और वसुनन्दि के श्रावकाचार ग्रन्थ में एकादश प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक धर्म का कथन किया गया है।

पण्डित आशाधर ने आपने सागार धर्माभृत ग्रन्थ में पक्ष, निष्ठा एवं साधन को आधार बनाकर श्रावक धर्म का अर्थात् श्रावक आचार का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थों में श्रावकाचार का कथन तीन पद्धतियों के आधार पर उपलब्ध होता है।

## पण्डित आशाधर की पद्धति

पक्ष, चर्या और साधन अथवा पक्ष, निष्ठा और साधन के आधार पर आशाधर ने इस प्रकार से श्रावक आचार अथवा श्रावक धर्म का कथन किया है—

१. निर्ग्रन्थ देव, निर्ग्रन्थ गुरु और निर्ग्रन्थ धर्म को ही मानना पक्ष है। इस प्रकार का पक्ष रखने वाले गृहस्थ को पाक्षिक-श्रावक कहा जाता है। इस उपासक की आत्मा मैत्री, मुदिता, करुणा तथा मध्यस्थता भावनाओं से भावित होती है।

२. हिंसा न करना, न्याय-नीति से धन का उपार्जन करना, द्वादश व्रतों का पालन करना और एकादश प्रतिमाओं की सविधि साधना करना, चर्या अथवा निष्ठा है। इस प्रकार के श्रावक को आशाधर नैष्ठिक श्रावक कहता है।

३. जीवन की सन्ध्या वेला में, सावद्य योग का त्याग करके, भक्त-पान का प्रत्याख्यान करना, साधन है। इस प्रकार के साधन को स्वीकार करने वाला श्रावक साधक कहलाता है।

साधकों के अन्य प्रकार से प्रकारान्तर हो सकते हैं। जैसे कि गुणस्थानों में, साधकों के दो प्रकार हैं—अविरत और विरत। विरतों के भी देशविरत और सर्वविरत। सर्वविरतों में भी प्रमत्त और अप्रमत्त। योग-शास्त्र में भी आचार्य हरिभद्र ने तथा आचार्य हेमचन्द्र ने साधकों के अनेक भेद, प्रभेद और अनुभेद किए हैं।

श्रावक के द्वादश व्रत तीन भागों में विभक्त है, जिनका कथन इस प्रकार है—

१. पञ्च अणुव्रत।
२. तीन गुणव्रत।
३. चार शिक्षाव्रत।
- (अ) पञ्च अणुव्रत
- (ब) सप्त शीलव्रत
- (स) पञ्च अणुव्रत
- (द) सप्त शिक्षाव्रत।

## व्रतों की क्रम-व्यवस्था

श्रावक के अथवा उपासक के द्वादश व्रतों में, प्रथम पञ्च अणुव्रत, द्वितीय तीन गुणव्रत और तृतीय चार शिक्षाव्रत हैं। श्रमण के पञ्च महाव्रतों की अपेक्षा लघु होने के कारण श्रावक के पञ्च व्रत अणुव्रत अथवा लघुव्रत कहे जाते हैं। ये पाँच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण होते हैं। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत श्रावक के उत्तरगुण हैं। श्रमण के पाँच महाव्रत मूलगुण हैं, और पञ्च समिति तथा तीन गुप्ति, उत्तरगुण कहे जाते हैं। मूलगुण श्रमण धर्म के तथा श्रावक धर्म के आधारभूत होते हैं। उत्तरगुण, मूलगुणों को

बढ़ाते हैं। वे मूलगुणों का संगोपन, संरक्षण और संपोषण भा करते हैं। श्रावक के पाँच मूलगुण एवं अणुव्रत इस प्रकार हैं—

१. स्थूल प्राणातिपात विरमण
२. स्थूल मृषावाद विरमण
३. स्थूल अदत्तादान विरमण
४. स्वदार-सन्तोष व्रत
५. इच्छा परिमाण व्रत

(क) प्रथम अणुव्रत का स्वरूप चार शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है—स्थूल, प्राण, अतिपात और विरमण। प्राण का अर्थ है, जीवन शक्ति। प्राण के दश भेद हैं—पञ्च इन्द्रिय, तीन बल अर्थात् मनोबल, वचोबल और कायबल, श्वास-प्रश्वास और आयुष्य। अतिपात का अर्थ है—घात करना एवं नष्ट करना। दश प्राणों में से यदि किसी का भी घात किया जाता है, तो वह हिंसा है। उस हिंसा से अलग हो जाना, विरमण है, विरति है, संयम है। श्रमण की अपेक्षा, श्रावक का हिंसा से विरमण स्थूल है। क्योंकि श्रावक षट्काय के एक इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। पाँच स्थावर अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवों की हिंसा की मर्यादा करता है, एक सीमा बाँध लेता है। अतः श्रावक का हिंसा-त्याग स्थूल है। इसके विपरीत श्रमण का हिंसा-त्याग सूक्ष्म है। क्योंकि वह षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग पूर्णतया करता है। अतः श्रावक का प्रथम अणुव्रत—स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत कहा गया है, शास्त्रों में।

श्रमण की सर्व हिंसा विरति की अपेक्षा से श्रावक की स्थूल हिंसा विरति, देशविरति कही जाती है। श्रावक अहिंसा व्रत का अंश रूप में पालन करता है। श्रमण अहिंसा व्रत का पूर्ण रूप में पालन करता है। क्योंकि वह मन से, वचन से और काय से किसी भी प्राणी अर्थात् त्रस एवं स्थावर की हिंसा न करता है, न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार श्रमण, हिंसा का त्याग तीन योग और तीन करण से करता है। योग का अर्थ है—मन, वचन और काय का व्यापार। करण का अर्थ होता है—कृत, कारित और अनुमोदित। उसका त्याग सर्वविरति कहा गया है—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं अर्थात् सर्व प्रकार की हिंसा का सर्वथा परित्याग करता हूँ। स्थूल और सूक्ष्म हिंसा को छोड़ता हूँ। श्रमण सापराधी व्यक्ति की भी हिंसा नहीं करता। श्रावक निरपराधी व्यक्ति की हिंसा तो नहीं करता लेकिन सापराधी की हिंसा कर सकता है। क्योंकि उसे अपनी रक्षा करनी होती है। अपने परिवार, समाज और राष्ट्र की भी रक्षा करनी होती है। अतः अपराधी को दण्ड देना होता है, अन्यथा, वह अधिक दुस्साहसी हो जाएगा। अपनी बहन-बेटी के शील की रक्षा का दायित्व भी उस पर होता है। अपनी सत्ता, संपत्ति और संपदा का संरक्षण उसे करना होता है। अतः श्रावक कायर नहीं, वीर होता

है। उसकी अहिंसा भी वीर्यवती होती है, उसकी अहिंसा बलवती होती है। अहिंसा बलवान् का धर्म है। श्रावक किसी पर अन्याय नहीं करता, परन्तु अपने पर होने वाले अन्याय को भी वह सहन नहीं कर सकता। वीर्य-हीनता एवं कायरता, अहिंसा नहीं हो सकती। अनीति, अन्याय, अत्याचार एवं विषमाचार को सहना अहिंसा नहीं कहा जा सकता।

### स्थूल अहिंसा व्रत के अतिचार

प्रत्येक स्वीकृत व्रत के चार दूषण होते हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। स्वीकृत व्रत को तोड़ने-छोड़ने का संकल्प, अतिक्रम दोष माना गया है। व्रत को तोड़ने की साधन-सामग्री तैयार करना, व्यतिक्रम का दोष है। व्रत को अंश में, खण्डित करना एवं अंश में, पालन करना, अतिचार दोष है। व्रत को पूर्ण रूप में, तोड़ देना एवं छोड़ देना, अनाचार दोष है। प्रत्येक व्रत के ये चार दोष होते हैं। किसी व्यक्ति ने व्रत किया, प्रतिज्ञा की, कि मैं रसाल फल का सेवन नहीं करूँगा। परन्तु आम्र फल की ऋतु आने पर, लोगों को खाते देखकर और उनके रंग-रूप तथा रस और सुरभि से प्रभावित होकर आम्र फल को खाने का अपने मन संकल्प कर लेता है, विचार कर लेता है। फिर खाने की खोज-खबर करने लगता है। फिर पहले लुक-छुप कर खाता है, और अन्त में निस्संकोच होकर खाने-पीने लगता है। ये ही अनुक्रम से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार दोष है। स्वीकृत अहिंसा व्रत को छोड़ने का अतिक्रम अर्थात् उल्लंघन करना, तोड़ने की योजना बनाना, व्यतिक्रम अर्थात् उलट-पलट कर देना। अहिंसा का कभी पालन करना, और कभी न करना। व्रत का अंश रूप में ही पालन करना, अतिचार अर्थात् आचार की मर्यादा का लोप करना। व्रत का सर्वथा ही पालन न करना, अनाचार अर्थात् भंग कर देना।

### अहिंसा अणुव्रत के अतिचार:

जैन धर्म का मुख्य आचार है-अहिंसा। अन्य समस्त व्रत उसके परिपोषक हैं। अहिंसा के पाँच अतिचार हैं, पाँच दोष हैं। उन दोषों का परित्याग करना, श्रावक का परम कर्तव्य हो जाता है।

१. बन्ध—इसका अर्थ है, बाँधना। अपना बन्धन किसी को पसन्द नहीं होता। किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध रोककर रखना। घर में काम करने वाले, दुकान पर काम करने वाले और कारखाने में तथा कार्यालय में काम करने वाले कर्मकरों को समय की अवधि से अधिक समय तक रोक रखना। ये सब बन्ध के प्रकार हैं।

२. वध—इसका अर्थ है, मारना, पीटना, पीड़ा देना तथा नाना प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट देना। ये सब वध के प्रकार हैं।

३. वृत्तिच्छेद—इसका अर्थ होता है—किसी की आजीविका को छिन लेना। किसी की रोजी-रोटी में बाधा डालना। किसी का व्यापार बन्द करा देना। नौकरी छुड़ा देना। ये सब



वृत्तिच्छेद के प्रकार हैं। वृत्तिच्छेद के स्थान पर छविच्छेद पाठ भी होता है, उसका अर्थ है—किसी का अंग भंग करना। हाथ, पैर, नाक और कान आदि काट लेना।

४. अतिभार—इसका अर्थ है, कि पशु तथा मनुष्य पर उसकी शक्ति से अधिक भार लाद देना। किसान लोग बैल पर, घोड़ा और ऊँट पर अधिक बोझ लाद देते हैं। घर के दास-दासी से उनकी शक्ति से अधिक काम लेना।

५. भक्त-पान निरोध—इसका अर्थ है—पशु को ठीक समय पर चारा-पानी नहीं देना। कर्मकरों के भोजन का समय हो जाने पर उनको भर पेट भोजन न देना। प्यास लगने पर भी उन्हें पानी पीने का अवकाश न देना। भूखे-प्यासे मनुष्य एवं पशु के भक्त-पान का निरोध करना।

### हिंसा के प्रकार :

हिंसा का अर्थ है—किसी भी प्राणी को मन से, वचन से और काय से कष्ट पहुँचाना। हिंसा करना भी पाप है, हिंसा की प्रेरणा देकर दूसरे से हिंसा करवाना भी पाप है और हिंसक की हिंसा का समर्थन करना भी पाप है। हिंसा के चार प्रकार हैं—

१. संकल्पजा—मन में किसी के प्रति द्वेष, घृणा, वैर, विरोध तथा क्रोध और असूया के भाव रखना। जान-बूझकर किसी के साथ वैर एवं विरोध रखना। किसी पर आक्रमण कर देना।

२. विरोधजा—विरोधी व्यक्ति की बिना कारण के हिंसा कर देना। उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना। उसके परिवार तक को गम्भीर एवं घातक चोट पहुँचाना। जान-बूझकर वैर-विरोध मोल लेना।

३. औद्योगिक हिंसा अर्थात् उद्योगजा-हिंसा—हिंसाप्रधान व्यापार करना। जिस व्यापार में पञ्च इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा होती हो।

४. आरम्भजा—जीवन-यापन के साधनों से तथा कार्यों से होने वाली हिंसा।

हिंसा करने में दो स्थितियाँ होती हैं—एक जिसमें हिंसा की जाती है। दूसरी जिसमें हिंसा करनी पड़ती है। आक्रामक हिंसा की जाती है। जीवन-यापन के लिए मनुष्य को संरक्षण जन्या, उद्योग जन्या और आरम्भ जन्या हिंसा करनी पड़ती है। अपनी सुरक्षा करने में भी हिंसा होती है। धन्धे-पानी में भी हिंसा होती है। श्रमण-जीवन में तो हिंसा का सर्वथा त्याग होता है। परन्तु श्रावक-जीवन में हिंसा का सम्पूर्ण रूप से त्याग सम्भव नहीं है। अतः श्रावक-जीवन का विधान है, कि वह निरपराध प्राणी का वध न करे। सापराध व्यक्ति की हिंसा का प्रतिकार करना, उसका कर्तव्य हो जाता है। उसकी हिंसा का दोष श्रावक को नहीं लगता। यह श्रावक-जीवन की मर्यादा है।

(ख) द्वितीय अणुव्रत-स्थूल मृषावाद विरमण। इसमें चार शब्द हैं—स्थूल, मृषा, वाद और विरमण। विरमण का अर्थ है—विरति। स्थूल का अर्थ है—सूक्ष्म का विपरीत भाव।

साधु सूक्ष्म असत्य भी कभी नहीं बोलता। उपासक स्थूल असत्य परिस्थितिवश बोल जाता है। अथवा तो उसे बोलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। मृषा का अर्थ है—मिथ्या एवं असत्य। वाद का अर्थ है—कथन करना, बोलना। श्रावक स्थूल मिथ्या भाषण से विरत होता है, सूक्ष्म से नहीं हो पाता। असत्य वचन न बोलना, मृषावाद विरमण व्रत का निषेधात्मक पक्ष है, और सत्य वचन बोलना, इस व्रत का विधेयात्मक पक्ष है। इस सत्य व्रत के पालन से बोलने वाले को लोक में पूज्यता प्राप्त होती है। विश्वास उत्पन्न होता है। सत्यनिष्ठा जागृत होती है। वचन-सिद्धि की प्राप्ति होती है। वह व्यक्ति लोक में वचन-सिद्ध कहा जाता है। उसकी बात पर सब लोग कान बन्द कर विश्वास करते हैं।

अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की साधना, परम आवश्यक है। झूठा मनुष्य सही अर्थ में, अहिंसक नहीं हो सकता। सच्चा अहिंसक कभी असत्य आचरण नहीं कर सकता। अहिंसा और सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे के अभाव में रह नहीं सकते। जीवित रहने के लिए मनुष्य हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकता। खान-पान में और रहन-सहन में होने वाली सूक्ष्म हिंसा को मनुष्य दूर नहीं कर सकता। असत्य के विषय में, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य असत्य को पूर्ण रूप से नहीं तो स्थूल रूप में तो छोड़ सकता है। श्रावक के लिए साधारणतया मृषावाद का सर्वथा त्याग अर्थात् सूक्ष्म असत्य का परित्याग शक्य नहीं होता। वह स्थूल मृषावाद का त्याग अवश्य कर सकता है।

स्थूल झूठ का त्याग भी सामान्यतया स्थूल हिंसा के त्याग के ही समान दो करण व तीन योग पूर्वक होता है। स्थूल झूठ किस को कहते हैं ? जिस असत्य से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, मित्रों में प्रामाणिकता न रहे, जन-जीवन में प्रतीति न रहे और समाज की दृष्टि में गिरना पड़े तथा राज-दण्ड भी कभी भोगना पड़े, उसे स्थूल असत्य एवं मोटी झूठ कहा जाता है। अनेक कारणों से मनुष्य स्थूल असत्य का प्रयोग करता है, जैसे कि—

१. वर-कन्या के सम्बन्ध में असत्य वचन का प्रयोग करना।
२. गाय, भैंस एवं घोड़ा आदि पशु के सम्बन्ध में, उसके क्रय-विक्रय के लिए असत्य भाषण का प्रयोग करना।
३. भूमि अथवा अन्य किसी वस्तु के स्वामित्व भाव के सम्बन्ध में असत्य कथन करना। झूठी जानकारी देना।
४. किसी की धरोहर को हड़पने के लिए असत्य वाणी बोलना। लेकर मुकर जाना।
५. कोर्ट-कचहरी में, झूठी गवाही देना। झूठे बयान देना। असत्य बोलना। किसी के साथ विश्वासघात करना। रिश्वत खाना और दूसरों को खिलाना। श्रावक के इस प्रकार का झूठ बोलने-बुलवाने का मन, वचन और काय से त्याग होता है।

स्थूल मृषावाद विरमण के पाँच अतिचार होते हैं, जिनका श्रावक सेवन नहीं करता—

- (क) सहसा अभ्याख्यान
- (ख) रहसि अभ्याख्यान

(ग) स्वदार तथा स्वपति मन्त्र भेद

(घ) मृषा उपदेश

(ङ) कूट-लेख करण

**स्थूल मृषावाद के पाँच अतिचार :**

१. बिना सोचे-समझे, बिना देखे-सुने किसी के विषय में भ्रान्त धारणा बना लेना। किसी पर मिथ्या कलंक लगाना। सज्जन को दुर्जन और दुर्जन को सज्जन कहना। सहसा अभ्याख्यान है। अभ्याख्यान का अर्थ है—मिथ्या दोष का आरोपण करना। सहसा का अर्थ है—बिना सोचे समझे।

२. किसी की गुप्त बात को सबके समक्ष प्रकट करना। किसी व्यक्ति के जीवन के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, घोर विश्वासघात है। रहसि का अर्थ है—एकान्त में, जो घटित हुआ है, उसका अभ्याख्यान अर्थात् उसका प्रकटीकरण कर देना, सब में प्रचारित कर देना।

३. स्व-दार-मन्त्र-भेद का अर्थ है—अपनी पत्नी के गुप्त रहस्य को किसी दूसरे के सामने प्रकट कर देना। स्व-पति-मन्त्र-भेद का अर्थ है—अपने पति की गुप्त बातों को दूसरों के सामने खोलकर रख देना। इससे परस्पर में दोनों के मनों में वैर-विरोध उत्पन्न होता है। यह एक घोर विश्वासघात होता है। धीरे-धीरे समग्र परिवार में क्लेश-कषाय की ज्वाला उत्पन्न हो जाती है। पति-पत्नी लज्जावश अपघात कर लेते हैं।

४. मृषा उपदेश का अर्थ है—मिथ्या कथन करना। किसी को सन्मार्ग से हटकर उन्मार्ग पर ले जाना। बलि देने से देवी प्रसन्न होती है, मनोवाञ्छा की पूर्ति करती है। इस प्रकार का एवं अन्य अनेक प्रकारों से मिथ्योपदेश देना। इससे संसार की वृद्धि होती है, उसका क्षय नहीं होता।

५. झूठे लेख लिखना। झूठे दस्तावेज तैयार करना। झूठे बही-खाते तैयार करना। झूठे सिक्के बनाना और उन्हें बाजार में चलाना। यह कूट लेख-करण अथवा कूट-लेख क्रिया है। श्रावक को इन अतिचारों का परित्याग कर देना चाहिए।

(ग) तृतीय अणुव्रत—स्थूल अदत्तादान-विरमण। इसमें चार शब्द हैं—विरमण अर्थात् विरति। सूक्ष्म का विपरीत स्थूल है। अदत्त का अर्थ होता है—जो दिया नहीं गया। आदान का अर्थ है—ग्रहण करना। स्थूल अदत्त के आदान का त्याग करना। यह अस्तेय व्रत है। स्तेय कहते हैं, चोरी करने को। अस्तेय कहते हैं, चोरी न करने को। श्रावक कभी किसी की चोरी नहीं करता। लेकिन वह सूक्ष्म चोरी से बच नहीं पाता। अतः वह स्थूल चोरी का ही परित्याग कर सकता है, सूक्ष्म का नहीं।

स्तेय कर्म का अर्थ है—चोरी करना। अस्तेय कर्म का अर्थ है—चोरी न करना। दूसरों की सत्ता, दूसरों की संपत्ति और दूसरों की सम्पदा और दूसरों के अधिकार की वस्तुओं

को उनकी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। अपनी योग्यता और आवश्यकता से अधिक संग्रह तथा संचय को भी चोरी ही कहा गया है। दूसरे के यश का अपहरण भी चोरी है। दूसरे की कृति की अनुकृति करना भी चोरी है। चोरी के हजारों प्रकार हो सकते हैं। समाज विरुद्ध और राष्ट्र विरुद्ध कार्य करना भी चोरी है।

जैन धर्म के आचार-शास्त्र में, चोरी को तृतीय अव्रत भी कहा गया है, और सप्त प्रकार के कुव्यसनों में भी इसकी परिगणना की है। व्यवहार-जीवन की शुद्धि के लिए भी चोरी का त्याग आवश्यक है। व्यापार में आय-चोरी और व्यय-चोरी की जाती है। किसी भी प्रकार की चोरी हो, जैन आचार्यों ने उसको अनाचार कहा है, उसका निषेध किया है, उसे अकर्म माना है। आज की परिस्थिति में सब से बड़ी और विकट समस्या कर-चोरी तथा कर-व्यञ्चना की है। जनता और सरकार दोनों के सिर दर्द की दवा नहीं हो पा रही है। क्योंकि चोरी के मूल को नहीं पकड़ा जा रहा है। चोरी का मूल है, असन्तोष एवं धन-लोभ।

अदत्तादान का अर्थ है—बिना दी वस्तु का ग्रहण करना। इसी को सामान्य भाषा में चोरी कहते हैं। श्रावक के लिए उस चोरी का त्याग आवश्यक है, जिस कारण राज्य दण्ड भोगना पड़े। समाज में अविश्वास उत्पन्न हो। प्रतिष्ठा को धक्का लगे। स्थूल चोरी किस प्रकार की होती है? उत्तर में कहा गया है, कि किसी के घर में सेंध लगाना। किसी की गांठ काटना। आज की भाषा में किसी की जेब काटना। किसी का ताला तोड़ना। किसी को लूटना। किसी के घर या दुकान पर डाका डालना। किसी का धन लेकर न लौटाना। आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह करके रखना। अपने पास की वस्तु का अनुचित उपयोग करना भी एक प्रकार की चोरी है। श्रावक चोरी का त्याग भी दो करण एवं तीन योग से करता है।

**अदत्तादान के पाँच अतिचार :**

१. स्तेय आहृत
२. तस्कर प्रयोग
३. राज्य विरुद्ध कर्म
४. कूट तोल-कूट मान
५. तत्प्रतिरूक व्यवहार

(क) चोरी का माल लेना, स्तेन आहृत अतिचार है। चोरी की वस्तु कम मूल्य में मिल जाती है। अतः व्यक्ति लोभवश ले लेता है। अधिक मूल्य से बेच देता है। श्रावक द्वारा चोरी का माल खरीदने से चोरी को प्रोत्साहन मिलता है।

(ख) चोरी करने की प्रेरणा देना। चोर की सहायता करना। तस्कर अर्थात् चोर को शरण देना। डाकू, लुटेरा और चोर का पक्ष करना।

(ग) राज्य विरुद्ध कार्य करना। प्रजा के हित में जो नियम बने हैं, उन्हें भंग करना। कर चुराना। बिना अनुमति पर-राज्य की सीमा को पार कर लेना, राज्य निषिद्ध वस्तुओं

को राज्य में लाना। राज्य हित के विरुद्ध षडयन्त्र करना। स्वार्थ पूर्ति के लिए राज्य के कानून को भंग करना। ये सब चोरी के कार्य हैं।

(घ) लेने-देने में कम-अधिक करना। यह कूट तोल और कूट माप अतिचार कहा जाता है। इससे व्यक्ति की प्रामाणिकता नष्ट हो जाती है। श्रावक किसी के साथ विश्वासघात नहीं करता। वह किसी के अज्ञान का अनुचित लाभ नहीं उठाता। कम-अधिक तोलना-नापना और गणना करना, यह विश्वासघात है।

(ङ) वस्तुओं में मिलावट करना, तत्प्रतिरूपक व्यवहार कहा गया है। असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना। बहुमूल्य वस्तु में, अल्पमूल्य वस्तु मिलाकर देना। शुद्ध दूध में पानी मिलाना। नकली दवा देना, जिससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। मिलावट करके देना भी एक प्रकार का विश्वासघात ही है। ये सब स्थूल चोरी के उदाहरण हैं। श्रावक को इस प्रकार के छल-बल पूर्ण एवं माया-कपट पूर्ण कार्य कदापि नहीं करने चाहिए। ये सब अतिचार कहे जाते हैं।

स्तेन का अर्थ है—चोर। उसके द्वारा जो वस्तु आहत अर्थात् लाई जाती है। चोर द्वारा चुराकर लाई वस्तु ग्रहण करना। तस्कर का अर्थ भी चोर है—उसका प्रयोग करना, उसे माध्यम बनाना। राज्य के विरुद्ध अर्थात् विपरीत कर्म अर्थात् कार्य करना।

कूट का अर्थ है—झूठा। तोलने और नापने के साधन—तुला, बाँट और गज, मीटर को कम-अधिक रखना।

तत्प्रतिरूपक व्यवहार। इसका अर्थ है—उसके जैसा व्यवहार करना। ये मूल शब्दों के अर्थ हैं, जिनको समझना श्रावक के लिए परम आवश्यक है, अनिवार्य है।

आज के युग में इस व्रत का परिपालन अति कठोर, अति कठिन तथा अति कटु माना जाता है। व्यापारी और सरकारी कर्मचारी में, एक-दूसरे का विश्वास नहीं रह पाता। दोनों एक-दूसरे को चोर समझते एवं मानते हैं। अतः संतुलन बिगड़ता चला जा रहा है। श्रावक के समक्ष अनेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। उसकी सही बात का भी विश्वास नहीं किया जाता है। अतः इस व्रत का पालन अति कठिन कार्य है।

(घ) चतुर्थ-अणुव्रत-स्थूल मैथुन विरमण-स्वदार सन्तोष व्रत—स्व-पति सन्तोष व्रत।

स्वदार-सन्तोष व्रत की व्याख्या इस प्रकार से है, कि अपनी पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन का मन, वचन एवं काय पूर्वक त्याग कर देना। जिस प्रकार श्रावक के लिए स्वदारसन्तोष का विधान है, उसी प्रकार से श्राविका के लिए स्व-पति-सन्तोष का नियम है। अपने पति के अतिरिक्त शेष समस्त पुरुषों के साथ मन, वचन एवं काय पूर्वक मैथुन सेवन का त्याग कर देना। श्रावक के लिए स्वदार-सन्तोष एवं श्राविका के लिए स्व-पति-सन्तोष अनिवार्य नियम है। साधु-साध्वी के लिए तो तीन करण तथा तीन योग से मैथुन का सर्वथा परित्याग होता ही है। श्रावक एवं श्राविका के लिए इसका पालन दो करण तथा तीन योग से माना गया है। अतः इस व्रत को स्थूल मैथुन

विरमण कहा गया है। साधक जीवन में शील व्रत का होना, परम आवश्यक होता है। जब श्रावक मैथुन सेवन की स्वदार सन्तोष मर्यादा करता है, तब उसमें स्वतः ही पर-दार-त्याग, वेश्या-त्याग, कन्या-त्याग का ग्रहण हो जाता है।

**स्थूल मैथुन विरमण के पाँच अतिचारः**

अन्य व्रतों की भाँति चतुर्थ अणुव्रत के भी पाँच अतिचार होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) इत्वरिक-परिगृहीता-गमन

(ख) अपरिगृहीता-गमन

(ग) अनंग-क्रीड़ा

(घ) पर-विवाह-करण

(ङ) काम-भोग-तीव्र अभिलाषा

१. जो स्त्री पर-दार कोटि में नहीं आती, उसको धन का लोभ देकर, कुछ समय के लिए अपनी बना लेना, स्वदार कोटि में ले आना, फिर उसके साथ काम-भोग का सेवन करना, इत्वरिक परिगृहीता गमन कहा जाता है। इत्वर का अर्थ है—अल्प काल। परिग्रहण का अर्थ है—स्वीकार। गमन का अर्थ है—काम-भोग का सेवन।

२. जो स्त्री अपने लिए अपरिगृहीत अर्थात् अस्वीकृत है, उसके साथ काम-भोग का सेवन करना, अपरिगृहीता गमन कहा गया है। इस कक्षा में, उन स्त्रियों का समावेश किया जाता है, जिनका अभी विवाह नहीं हुआ, केवल सम्बन्ध हुआ है। जो अभी तक कन्या है। जो स्त्री वेश्या का व्यवसाय करती है। जो स्त्री अपने पति के द्वारा परित्यक्ता है। या फिर जिसने अपने पति को छोड़ दिया है। जिसका पति पागल हो गया हो। जो अपने घर की दासी हो। यह अपरिगृहीता गमन रूप अतिचार होता है।

३. कन्या-दान में पुण्य समझ कर, अथवा तो मोह-ममतावश एवं राग भाव से दूसरों के लिए वर-वधू की खोज करके विवाह कराना। यह पर-विवाह-करण अतिचार है। अपने पुत्र तथा पुत्री का विवाह करना, तो श्रावक के अपने कर्तव्य में आ जाता है। वह अतिचार रूप नहीं है।

४. जिस किसी भी स्त्री के साथ क्रीड़ा करना, काम चेष्टा प्रदर्शित करना। आलिंगन करना, चुम्बन लेना। हस्त कर्म करना। संघर्षण मैथुन करना, नाभि मैथुन करना। कृत्रिम साधनों से कामाचार का सेवन करना। ये सब अनंग-क्रीड़ा अतिचार के अन्तर्गत आते हैं।

५. पाँच इन्द्रियों में से नेत्र और श्रोत्र के विषय—रूप और शब्द को काम कहा जाता है। क्योंकि इनसे कामना तो होती है परन्तु भोग नहीं होता। घ्राण, रसन एवं स्पर्शन के विषय—गन्ध, रस एवं स्पर्श भोग कहे जाते हैं। क्योंकि भोग इन्हीं से होता है। काम और भोग में अत्यन्त आसक्ति रखना, काम भोग तीव्र अभिलाषा अतिचार कहा जाता है।

(ङ) पञ्चम अणुव्रत-इच्छा परिमाण व्रत। स्थूल परिग्रह विरमण रूप व्रत।

आकाश अनन्त है। उसका आर-पार नहीं है, उसका कहीं पर अन्त नजर नहीं आता। क्षितिज के आर भी आकाश है, और क्षितिज के पार भी आकाश है। अतः उसे अनन्त कहा गया है। प्राणी की इच्छा एवं तृष्णा भी अन्त-हीन है। उसका कहीं अन्त नहीं होता। शैशव, कौमार, यौवन और वार्धक्य में, सर्वत्र परिव्याप्त रहती है। अतः इच्छा एवं तृष्णा को शास्त्रकारों ने अनन्त कहा है। यदि उसका कहीं अन्त हो सकता है, तो सन्तोष में ही हो सकता है। परन्तु सन्तोष की सीमा में प्रवेश करना, बड़ा दुष्कर कार्य है।

श्रावक अपने जीवन में, इच्छाओं का, तृष्णाओं का और परिग्रहों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। अतः उसका पञ्चम अणुव्रत स्थूल परिग्रह विरमण कहा गया है। वह इच्छाओं का त्याग नहीं कर सकता लेकिन उनका परिमाण कर सकता है। अतः उसका यह व्रत इच्छा परिमाण कहा गया है। क्योंकि परिवार में, परिजन में और समाज में रहकर, इच्छाओं का सर्वथा त्याग संभव नहीं, वह तो श्रमण जीवन में ही संभव हो सकता है। इच्छा-तृप्ति का श्रेष्ठ मार्ग है, इच्छा-नियन्त्रण। इसी को सन्तोष कहा गया है। इच्छा-मर्यादा अथवा इच्छा-नियन्त्रण का नाम है-इच्छा परिमाण व्रत। यह श्रावक का पञ्चम अणुव्रत है। अनावश्यक संचय तथा संग्रह से तृष्णा बढ़ती है, समाज में विषमता उत्पन्न होती है, संघर्ष खड़े होते हैं। सर्व-नाशी युद्ध होते हैं। अतः शास्त्र में नव प्रकार के परिग्रह कहे हैं-

१. क्षेत्र	४. सुवर्ण	७. द्विपद
२. वास्तु	५. धन	८. चतुष्पद
३. हिरण्य	६. धान्य	९. कुप्य।

नव प्रकार का परिग्रह :

१. क्षेत्र-खेत, बाग-बगीचा और गोचर भूमि
२. वास्तु-मकान, दुकान और गोदाम
३. हिरण्य-रजत पात्र, आभूषण और अन्य उपकरण
४. सुवर्ण-स्वर्ण पात्र, आभूषण, सिक्का और मुद्रा
५. धन-रुपया, रत्न, हीरा और मोती
६. धान्य-गोधूम, यव, चावल, मूँग और तिल
७. द्विपद-नर-नारी, कबूतर, मयूर, सारस एवं हंस
८. चतुष्पद-गाय, बैल, भैंस, हाथी और घोड़ा
९. कुप्य-लोहा, तांबा, कांसा, पीतल और जस्ता।

श्रावक को इस व्रत में इनका परिमाण करना चाहिए। गाड़ी, मोटर, बगी, तांगा, रेल और रथ आदि सचित्त एवं अचित्त वाहन-यानों का भी समावेश इनमें सुगमता से हो

जाता है। श्रावक को इनका भी परिमाण करना चाहिए। आज के नूतन वाहन, जैसे कि जल-यान एवं वायु-यान तथा लोह-पथ-गामिनी गन्त्री का भी परिमाण करना चाहिए। श्रमण-जीवन में तो सचित्त तथा अचित्त समस्त वाहनों का सर्वथा परित्याग होता है।

**इच्छा परिमाण व्रत के पञ्च अतिचारः**

- (क) क्षेत्र वास्तु-परिमाण अतिक्रमण
- (ख) हिरण्य-सुवर्ण-परिमाण अतिक्रमण
- (ग) धन-धान्य-परिमाण अतिक्रमण
- (घ) द्विपद-चतुष्पद-परिमाण अतिक्रमण
- (ङ) कुप्य-परिमाण अतिक्रमण

इन पञ्च अतिचारों का सम्बन्ध नव प्रकार के पदार्थों से है। श्रावक को इन अतिचारों का सेवन नहीं करना चाहिए, अन्यथा स्वीकृत व्रत भंग हो जाता है। श्रावक, श्रमण के समान परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर पाता। अंश रूप में ही वह परिग्रह का परित्याग करता है। यह त्याग उसके इच्छा परिमाण अर्थात् परिग्रह परिमाण व्रत से फलित होता है। अतः इसको स्थूल परिग्रह विरमण भी कहा गया है।





## २. श्रावक के तीन गुण-व्रत

श्रावकाचार में, श्रावक के पञ्च अणुव्रतों का कथन किया जा चुका है। द्वादश व्रतों में तीन गुणव्रत भी हैं। गुण का अर्थ है—विशेषता एवं विशिष्टता। ये तीन गुणव्रत, पञ्च मूलगुणों में विशेषता उत्पन्न करने वाले हैं। विशेषता का क्या अर्थ है? उत्तर में कहा जाता है, कि ये तीनों गुणव्रत मूल व्रतों का विशेष विकास करते हैं। उनका संगोपन और संरक्षण भी करते हैं। उनमें शिथिलता आ जाने पर उन्हें दृढ़ करते हैं। आचार-शास्त्र में गुणव्रत तीन माने गए हैं—

(क) दिशा-परिमाण व्रत

(ब) उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

(स) अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

श्रावक के पञ्च मूल गुणों की रक्षा करने से, विकास करने से तथा अभिवृद्धि करने से गुणव्रत संज्ञा सार्थक है। आचार्यों का एक विचार यह भी है, कि अणुव्रतों की भावना के रूप में इनका कथन किया गया है। गुणव्रतों की साधना से अथवा परिपालना से अणुव्रतों अथवा मूलव्रतों की रक्षा विशेष रूप में सुगम एवं सुबोध हो जाती है। आचार्य घासीलाल जी महाराज ने उपासकदशांग सूत्र की स्व-प्रणीत टीका में गुणव्रत की परिभाषा इस प्रकार की है—“व्रतान्तर-परिपालनेन साधकतमानि व्रतानि, गुण-व्रतानि कथ्यन्ते।” अर्थात् अन्य व्रतों के अनुपालन करने में, जो साधकतम अर्थात् अतिशय साधक होते हैं, उन्हें गुणव्रत कहा गया है।

१. दिशा परिमाण व्रत— अपनी त्याग वृत्ति के अनुसार, व्यवसाय तथा व्यापार की प्रवृत्ति के निमित्त दिशाओं की सीमा निश्चित करना—दिशा परिमाण व्रत है। इस गुणव्रत से परिग्रह परिमाण रूप पञ्चम अणुव्रत की रक्षा होती है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित हो जाने पर, तृष्णा का एवं इच्छा का नियन्त्रण सहज-सरल हो जाता है। तृष्णा कम होने पर संग्रह कम होगा, और संग्रह कम होने पर परिग्रह कम होगा। दिशा-परिमाण व्रत, इच्छा परिमाण व्रत की ही एक भावना है, गुण विशेष है।

**दिशा-परिमाण व्रत के अतिचारः**

दिशा परिमाण व्रत के पाँच अतिचार होते हैं, जो इस प्रकार से हैं—

(क) ऊर्ध्व दिशा परिमाण अतिक्रमण

(ख) अधो दिशा परिमाण अतिक्रमण

(ग) तिर्यक् दिशा परिमाण अतिक्रमण

(घ) क्षेत्र-वृद्धि

(ङ) स्मृति अन्तर्धा

दिशाओं की गणना तीन प्रकार से की जाती है, जैसे कि तीन दिशाएँ—ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा और तिर्यक् दिशा। तिर्यक् दिशा के चार भेद हैं—पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा और दक्षिणा। चार अनुदिशाएँ हैं, जो चारों के कोण में आती हैं। उपासक ने दिशाओं का जो परिमाण किया है, उसका अतिक्रमण करना अर्थात् उल्लंघन करना, अतिचार दोष है। किसी व्यक्ति ने ऊँची दिशाओं में एक कोश, नीची दिशा में एक कोश और चारों दिशाओं में तथा चारों अनुदिशाओं में पाँच-पाँच कोश की मर्यादा रखी। उससे आगे जाने में अतिचार दोष लगता है। किसी ने एक दिशा की कोश संख्या को घटाकर, यदि अन्य दिशा में बढ़ा दिया है, तो वह क्षेत्र-वृद्धि अतिचार होता है। स्मृति अन्तर्धा का अर्थ है—जो दिशा निश्चित की है, उसकी स्मृति न रहना, यह भी अतिचार दोष है। जाने आने के विशाल क्षेत्र को सीमित क्षेत्र करने की यह एक विधि है। इससे लोभ पर नियन्त्रण होता है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने योग-शास्त्र में कहा है—जिस साधक एवं उपासक ने दिशा परिमाण व्रत को अंगीकार किया है, उसने तृष्णा के महासागर को बढ़ने से रोका है। लोभ तथा तृष्णा का महासागर निरन्तर बढ़ता रहता है, उसे रोक देना, दिशा परिमाण व्रत का फल है।

### उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

२. गुणव्रतों में द्वितीय गुणव्रत है—उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत। भोग की तृष्णा मनुष्य को पतन के गहन गर्त में डाल देती है। भोग-अनन्त हैं, क्योंकि भोग्य भी अनन्त हैं, और भोक्ता भी अनन्त हैं। लेकिन एक मनुष्य, जिसका जीवन सान्त तथा सीमित है, वह अपने अल्प जीवन के क्षणों में कितने भोग्य पदार्थों को भोग सकता है? कब तक भोग सकता है? जीवन का अन्त आ सकता है, परन्तु भोगों का अन्त नहीं आ सकता। अतः उपासक एवं श्रावक को या तो भोगों का त्याग कर देना चाहिए, या फिर उनकी मर्यादा बाँध लेनी चाहिए। सन्तोष से ही परम शान्ति का मार्ग उपलब्ध किया जा सकता है।

जो वस्तु एक बार उपभोग में आती है, उसे उपभोग कहते हैं। बार-बार उपभोग में आने वाली वस्तु को परिभोग कहते हैं। उपभोग और परिभोग की मर्यादा बाँधने को उपभोग परिभोग परिमाण व्रत कहा गया है। इस गुणव्रत की साधना करने से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है, और परिग्रह सीमित होने से सन्तोष गुण की अभिवृद्धि भी होती है। जीवन में सहजता तथा सरलता का आगमन होता है। साधक को मोक्ष का महालाभ भी होता है। क्योंकि भोग का त्याग करने से महारम्भ, महापरिग्रह और महातृष्णा का अन्त हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने योग शास्त्र में कहा है, कि इस व्रत की सीमा में भोग्य योग्य समस्त वस्तुओं का समावेश हो जाता है। खाने-पीने की वस्तु, रहने-सहने की वस्तु, पहनने ओढ़ने की वस्तु। सचित्त वस्तु और अचित्त वस्तु—सब इसके अर्न्तगत हैं। अतः शास्त्रकारों ने छब्बीस बोल की मर्यादा का कथन किया है—

१. अंगोष्ठा	१४. ओदन
२. मञ्जन	१५. सूप-दाल
३. फल	१६. घृत
४. तेल	१७. शाक
५. उबटन	१८. मेवा
६. स्नान जल	१९. जेमन-भोजन
७. वस्त्र	२०. पेय जल
८. विलेपन	२१. मुखवास
९. फूल	२२. वाहन
१०. आभरण	२३. उपानत, जूता
११. धूप-दीप	२४. शय्या आसन
१२. पेय पदार्थ	२५. सचित्त वस्तु
१३. मिष्ठान्न	२६. खाद्य पदार्थ

श्रावक को इन छब्बीस वस्तुओं की निश्चित मर्यादा कर लेनी चाहिए। क्योंकि मर्यादा करने से उसके जीवन में शान्ति तथा सन्तोष रहेगा। विवेक जागृत होगा। इस व्रत के पाँच अतिचार होते हैं, जिनका परित्याग कर देना चाहिए—

**उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार :**

- (क) सचित्त आहार
- (ख) सचित्त प्रतिबद्ध आहार
- (ग) अपक्व आहार
- (घ) दुष्पक्व आहार
- (ङ) तुच्छ औषधि-भक्षण

ये पाँच अतिचार भोजन से संबद्ध हैं। जो सचित्त वस्तु मर्यादा के अन्दर नहीं है, उसका भूल से सेवन करने पर प्रथम अतिचार होता है। त्यक्त सचित्त वस्तु से संसक्त, अचित्त वस्तु का आहार करने पर सचित्त प्रतिबद्ध अतिचार होता है। जैसे वृक्ष में चिपका गोंद, आम्रफल गुठली सहित और पिण्ड खजूर। सचित्त वस्तु का त्याग करने पर बिना अग्नि के पके आहार का सेवन करना, अतिचार है। जिसका नाम अपक्वाहार है। अथवा

बिना पके कच्चे एवं हरे शाक तथा फल का सेवन करना। आधे पके और आधे कच्चे पदार्थों का सेवन करना, जो खाने में कम और फैकने में अधिक, इस प्रकार के शाक एवं फल तथा पदार्थ का सेवन करना—तुच्छ औषधि-भक्षण अतिचार होता है। भूल-चूक से यदि अतिचारों का सेवन हो जाए, तो आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त करने से अतिचार दूर हो जाता है।

### पञ्चदश कर्मादानः

मनुष्य को उपभोग और परिभोग वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए कर्म करना पड़ता है। उद्योग, व्यवसाय और व्यापार करना पड़ता ही है। जिस कर्म से, जिस व्यवसाय से और जिस व्यापार से महारम्भ होता हो, महाहिंसा होती हो, स्थूल पाप होता हो, श्रावक के लिए वे निषिद्ध कर्म हैं। क्योंकि उनसे अशुभ कर्मों का उपार्जन होता है। शास्त्रकारों ने उन्हें कर्मादान की संज्ञा प्रदान की है। उपासक दशांग में उनकी संख्या पञ्चदश है—

- |                         |                            |
|-------------------------|----------------------------|
| १. अंगार कर्म           | २. वन कर्म                 |
| ३. शकट कर्म             | ४. भाट कर्म                |
| ५. स्फोटक कर्म          | ६. दन्तवाणिज्य             |
| ७. लाक्षा वाणिज्य       | ८. रस वाणिज्य              |
| ९. केश वाणिज्य          | १०. विष वाणिज्य            |
| ११. यन्त्र पीडन क्रिया  | १२. निर्लाछन क्रिया        |
| १३. दावाग्निदान क्रिया  | १४. सरोहद तडाग शोषण क्रिया |
| १५. असती-जन पोषण क्रिया |                            |

धर्म की उपासना करने वाले उपासक को इन निषिद्ध कामों का परित्याग करना, परम आवश्यक माना गया है। इन पञ्चदश कर्मादानों में पाँच तो आजीविका रूप कर्म हैं। जैसे कि लकड़ी एवं पत्थर जलाकर कोयला तैयार करना। आवा जलाकर ईट तैयार करना। भट्टा जलाना अंगार कर्म है। हरे-भरे वृक्ष काटना एवं हरी घास काटना, वन कर्म होता है। गाड़ी, बहली एवं रथ बनाना, शकट कर्म है। वाहन एवं यान किराये पर देना—चलाना, भाट कर्म होता है। भूमि खुदवाना, सुरंग लगवाना, मकान बनवाना और कूप-नहर खुदवाना, स्फोटक कर्म होता है। कुछ आचार्य कृषि कराने को भी स्फोटक मानते हैं। इन कर्मों में पञ्च इन्द्रिय जीवों का वध होता है। अतः अहिंसा की आराधना करने वाले को इनका निषेध है।

पाँच वाणिज्य हैं, जैसे कि दाँत का वाणिज्य, लाख का वाणिज्य, रस का वाणिज्य, केश का वाणिज्य और विष का वाणिज्य। वाणिज्य का अर्थ है—व्यापार एवं व्यवसाय। दन्त के लिए गज को मारा जाता है। लाख तैयार करने के लिए वृक्षों को काटा जाता है। रस अर्थात् मदिरा के लिए हजारों-लाखों जीवों का वध होता है। केश अर्थात् बालों के

लिए बालों वाले प्राणियों का वध किया जाता है। आचार्यों ने केश से केशवती अर्थ भी किया है, जिसका अभिप्राय है, सुन्दरी नारियों का व्यापार, उन्हें खरीदकर बेच देना। विष का अर्थ है—मादक वस्तुओं का व्यापार, अस्त्र-शस्त्र बनाकर बेचना—इन वाणिज्यों में घोर हिंसा होती है। अतः श्रावक के लिए निषिद्ध हैं।

पाँच क्रियाएँ होती हैं, जैसे कि यन्त्र की क्रिया, निर्लाछन की क्रिया, दाव अग्नि की क्रिया, सरोवर-तडाग शोषण की क्रिया और कुलटा पोषण की क्रिया। तेली की घानी, बैल को खस्ती करना, खेत में एवं जंगल में आग लगाना, झील एवं तालाब को सुखाना और कुलटा तथा वेश्याओं का पोषण करना। इन क्रियाओं में भी घोर पाप कर्म होता है।

### अनर्थ-दण्ड-विरमण व्रत

व्यवसाय किसी भी प्रकार का हो। यदि उसमें दो बातें दृष्टिगोचर हों, तो वह श्रावक के लिए करने योग्य होता है। पहली बात है, कि उसमें स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा न होती हो। दूसरी बात है, कि उस में किसी व्यक्ति का अथवा समाज का शोषण न होता हो। अनर्थ दण्ड विरमण में इन तथ्यों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अपने तथा अपने परिवार के जीवन निर्वाह के निमित्त होने वाले अनिवार्य सावध अर्थात् हिंसा पूर्ण व्यापार के अतिरिक्त शेष सभी पापमय प्रवृत्तियों से निवृत्त हो जाना, अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत है। इस तीसरे गुणव्रत से मुख्य रूप में अहिंसा तथा अपरिग्रह का परिपोषण होने से इसको गुणव्रत संज्ञा प्राप्त होती है। अनर्थ दण्ड अर्थात् निरर्थक पाप प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है—

- (क) अपध्यान आचरण से
- (ख) प्रमाद आचरण से
- (ग) हिंसा प्रदान से
- (घ) पापकर्म के उपदेश से

१. अपध्यान का अर्थ है—अशुभ ध्यान। ध्यान चार प्रकार का है—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। प्रथम के दो अशुभ हैं, और अन्त के दोनों शुभ हैं। शुभ ध्यान कल्याणकारी होता है।

२. प्रमाद आचरण का अर्थ है—आलस्य का सेवन। शुभ प्रवृत्ति में आलस्य रखना, अथवा शुभ प्रवृत्ति करना ही नहीं। साधक को सदा उद्यमशील रहना चाहिए। यही इसका अभिप्राय है।

३. हिंसा प्रदान का अर्थ है—किसी को हिंसक साधन देकर, हिंसक कृत्यों में सहायक होना। जैसे अस्त्र-शस्त्र का व्यापार करना।

४. पाप कर्म उपदेश का अर्थ है—जिस उपदेश से सुनने वाला पाप कर्म में प्रवृत्त हो, वैसा उपदेश देना। जैसे किसी व्यक्ति को शस्त्र देकर उसे हिंसा करने के कार्य में नियोजित करना।

**अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के अतिचार-**

अन्य व्रतों की भाँति अनर्थ-दण्ड-विरमण व्रत के भी पाँच अतिचार होते हैं-

- |                          |                   |
|--------------------------|-------------------|
| १. कन्दर्प               | २. कौत्कुच्य      |
| ३. मौखर्य                | ४. संयुक्त अधिकरण |
| ५. उपभोग-परिभोग अतिरिक्त |                   |

स्वयं विकार उत्पन्न करने वाले बोल बोलना अथवा दूसरे किसी के सुनना-कन्दर्प है। विकार उत्पन्न करने वाली भाण्ड जैसी चेष्टा करना-कौत्कुच्य है। समय-असमय असंबद्ध तथा अनावश्यक वचन बोलना-मौखर्य कहा जाता है। जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा के उग्र होने की संभावना हो, उन्हें संयुक्त करके रखना-संयुक्त अधिकरण है। जैसे कारतूस भरकर पिस्तौल रखना, बाण चढ़ाकर धनुष रखना, म्यान से निकाल कर तलवार रखना। आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री का संग्रह रखना-उपभोग-परिभोग-अतिरिक्त है। ये पाँचों अतिचार निरर्थक हिंसा का परिपोषण करने वाले हैं। साधक श्रावक को कदापि इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

निष्प्रयोजन हिंसा और असत्य भाषण मनुष्य की प्रवृत्ति के अंग बन चुके हैं। स्नान मञ्जन में अधिक जल का प्रयोग करना। भोजन में जूठा छोड़ना, संभाषण में अर्थात् बात-चीत में अश्लील तथा अपशब्दों का प्रयोग करना। मौज-मजा करने के लिए सुरापान करना। व्यसन के मादक द्रव्यों का सेवन करना। चल चित्र अधिक देखना। नाच-गान में अधिक अभिरुचि रखना। ऐसे उपन्यास, कथा, एवं कहानी पढ़ना, जिससे मनोविकार प्रबल होते हों। व्यर्थ का चिन्तन करना। श्रावक को इन सबका त्याग करना चाहिए।



## ३. श्रावक के चार शिक्षा-व्रत

श्रावक अथवा उपासक के द्वादश व्रतों में पाँच मूल व्रत हैं। तीन गुणव्रत हैं। चार शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रत और गुणव्रतों का सम्बन्ध, मनुष्य के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन से अधिक है। मनुष्य को समाज और राष्ट्र में, इस प्रकार से रहना चाहिए, कि दूसरों के साथ उसका संघर्ष न हो। वह स्वयं भी सुखी और शान्त जीवन व्यतीत कर सके, और दूसरों के सुख और शान्ति में सहयोग एवं सहकार कर सके। लेकिन चार शिक्षाव्रतों में, वह अध्यात्म साधना की ओर विशेष रूप में अग्रसर होता चला जाता है। वह व्यक्तिगत, समाजगत और राष्ट्रगत सम्बन्धों से ऊपर उठकर अध्यात्म साधना में एकाग्र होता है। अगार धर्म से अनगार धर्म की ओर अपनी अन्तर् यात्रा करता है। नीति और धर्म से ऊँचा उठकर, अध्यात्म भाव में रमण करता है। श्रमण धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है। अतः चार व्रतों को शिक्षा-व्रत कहा गया है। यह विशेष साधना है।

### शिक्षाव्रत की परिभाषा:

यहाँ पर शिक्षा का क्या अर्थ है? उत्तर में कहा गया है, कि —“शिक्षणं शिक्षा।” अर्थात् सीखने को शिक्षा कहा जाता है। क्या सीखा जाता है? उत्तर इस प्रकार है—“परम-पद-प्राप्ति-साधनीभूता क्रिया।” परम पद अर्थात् मोक्ष, उसको प्राप्त कराने में साधनभूत जो क्रिया अर्थात् साधना। अभिप्राय यह है, मोक्ष की ओर ले जाने वाली साधना ही शिक्षा है। जैन धर्म की साधना का सार है—मोक्ष की प्राप्ति। आत्म-गुणों के विकास की पराकाष्ठा ही मोक्ष है। आत्मा के अनन्त गुणों में से तीन गुण मुख्य हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं, उपाय है, साधन हैं। इन तीनों का चरमोत्कर्ष ही मोक्ष है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास का नाम चारित्र है। चारित्र का अर्थ है—जन्म-जन्मान्तरों से संचित कर्म-मल को दूर करने की शक्ति। ज्ञान का अर्थ है—वस्तु तत्व का यथार्थ परिबोध। दर्शन का अर्थ है—दृष्टि। जिसके द्वारा, श्रद्धा और आस्था स्थिर हो, चल-विचल न हो, वह दृष्टि है, दर्शन है। श्रावक जब अपने जीवन का लक्ष्य मोक्ष को बना लेता है, तब वह चार शिक्षा-व्रतों की साधना करता है। श्रावक के चार शिक्षा-व्रत इस प्रकार हैं—

१. सामायिक व्रत

२. देशावकाशिक व्रत

३. पोषध व्रत

४. अतिथि संविभाग व्रत

ये चारों शिक्षाव्रत हैं। शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास। जिस प्रकार एक छात्र बार-बार विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को शिक्षाव्रतों का बार-बार अभ्यास

करना, परम आवश्यक होता है। अणुव्रत अर्थात् मूलव्रत तथा गुणव्रत जीवन में एक बार ही ग्रहण किए जाते हैं, जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण करने योग्य होते हैं। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन भर के लिए होते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत अल्पकाल के लिए होते हैं। जैसे कि सामायिक व्रत केवल ४८ मिनट के लिए होता है। देश का अवकाश भी रोज-रोज करना होता है। दिशा व्रत में जो मर्यादा की थी, उसका अनुदिन संक्षेप करना होता है। पोषध भी एक पक्ष में दो बार किया जाता है। वह रोज करने का नहीं है। पोषध एक बहुत ऊँची साधना है, इसमें श्रावक श्रमणभूत हो जाता है। श्रमण जैसी साधना करता है। सर्व सावध व्यापारों का परित्याग कर देता है। वह साधना भी २४ घंटे की एवं ३६ घंटे तक चलती है। उस स्थिति में श्रावक को श्रमणभूत अर्थात् श्रमण तुल्य कहा गया है। अतिथि की सेवा एवं सत्कार करना भी शिक्षाव्रत है। क्योंकि इस में अपने भोजन में से अतिथि का संविभाग किया जाता है। इससे दान एवं त्याग की शिक्षा मिलती है।

### श्रावक का सामायिक व्रत

चार शिक्षाव्रतों में से सामायिक व्रत प्रथम शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्द में दो पद हैं—सम और आय। दोनों के संयोग से समाय शब्द बनता है, फिर सामायिक बन जाता है। यह व्याकरण की प्रक्रिया है। सम का अर्थ है—समता एवं समभाव। आय का अर्थ है—लाभ एवं प्राप्ति। जिस साधना से समभाव अथवा विषमता मिटकर समता की प्राप्ति होती है, उस साधना का नाम वस्तुतः सामायिक व्रत है। समभाव का क्या अर्थ होता है? उत्तर में कहा गया है, कि जो त्रस और स्थावर, सभी जीवों पर समत्व भाव रखता है, वह सामायिक व्रत का आराधक होता है। सामायिक में मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि और काय की शुद्धि अपेक्षित है। जिसका शरीर भी स्वस्थ हो, और मन भी स्वस्थ हो, वही इस व्रत की साधना करने में सफल होता है। तीनों योग विशुद्ध हों तभी उसका अध्यात्म लाभ प्राप्त होता है। निर्दोष साधना ही फलवती मानी जाती है।

### सामायिक व्रत के अतिचारः

अन्य व्रतों की भाँति सामायिक व्रत के भी पाँच अतिचार होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

- |                     |                     |
|---------------------|---------------------|
| १. मनोदुष्प्रणिधान  | २. वचो दुष्प्रणिधान |
| ३. काय दुष्प्रणिधान | ४. स्मृति अकरण      |
| ५. अनवस्थित करण     |                     |

(क) मन से राग-द्वेषात्मक अथवा कषाय भाव का अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ का अनुचिन्तन करना। दुश्चिन्तन करना।

(ख) याणी से सावध वचन बोलना। अश्लील वचन और अपशब्द कहना। मिष्टवाक् न बोलकर, कटुवाक् बोलना। मीठा बोल न बोलना।

(ग) काय से सावध क्रिया करना। किसी को मारना, पीटना और पीड़ा देना। शरीर से व्यर्थ की चेष्टा करना। किसी प्राणी का घात करना।



(घ) सामायिक की स्मृति न रखना। सामायिक की अथवा नहीं की। कब ग्रहण की थी। समय की विस्मृति हो जाना। सामायिक का काल पूरा किया या नहीं किया। इसको स्मृति अकरण कहते हैं।

(ङ) सामायिक की जो विधि है, उसके अनुसार सामायिक न करना। सामायिक रोज न करना। कभी कर लेना, कभी न करना। इसको अनवस्थित करण अतिचार कहा गया है।

### सामायिक व्रत की महिमा:

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने योग-शास्त्र में कहा है कि जिस व्यक्ति ने अपने मानसिक धरातल पर उठने वाले अपध्यान अथवा अशुभ ध्यान के तूफान को शान्त, प्रशान्त और उपशान्त कर दिया है, और जिसने समस्त पाप पूर्ण व्यापारों का परित्याग कर दिया है, जिसके अन्तर चित्त में, मुहूर्त भर के लिए समभाव का उदय हुआ हो, वही साधक सामायिक व्रत का आराधक माना जाता है।

जिस साधक ने निश्चय से अपनी आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, और जिसने अपनी विवेक शक्ति से नीर-क्षीर की भाँति परस्पर संबद्ध जीव और कर्म का पृथक्करण कर लिया है, वही व्यक्ति सामायिक व्रत का अधिकारी माना गया है। कर्म और जीव को अलग-अलग करना ही वस्तुतः सामायिक व्रत की सच्ची साधना होती है।

समभाव रूप सूर्य की प्रभा से रागद्वेष रूप अन्धकार का विनाश हो जाने पर, योगीजन जब अपनी आत्मा के स्वरूप को अपने में ही देखता है, अपने द्वारा, तब उनकी साधना, सामायिक व्रत कही जा सकती है। भोगी बाहर में देखता है, योगी अपने अन्दर में देखता है, और रोगी शरीर भर की चिन्ता करता है।

### श्रावक का देशावकाश व्रत

श्रावक के चार शिक्षा-व्रतों में से यह द्वितीय शिक्षाव्रत है। देश और अवकाश—इन दो पदों के मेल से बना देशावकाश। फिर बन गया देशावकाशिक। देश का अर्थ है—अंश। अवकाश का अर्थ है—छुट्टी। जिस साधना में, अंश रूप में छुटकारा मिलता हो, उसे देशावकाश कहते हैं। दिशा परिमाण व्रत में, और देशावकाश व्रत में, परस्पर सम्बन्ध है। दिशा परिमाण और देशावकाश में एक भेद तो यह है, कि दिशा परिमाण, तीन गुणव्रतों में से एक गुणव्रत है। देशावकाश व्रत, चार शिक्षा-व्रतों में से एक शिक्षाव्रत है। दूसरा भेद यह है, कि दिशाव्रत जीवन भर के लिए, जीवन में एक बार ग्रहण किया जाता है। देशावकाश व्रत, दिशा परिमाण की मर्यादा का संक्षेप करता है। यह संक्षेप प्रतिदिन करना होता है। रात्रि में भी कर सकते हैं। दिवस में भी कर सकते हैं। अल्प काल के लिए भी कर सकते हैं। अधिक समय के लिए भी कर सकते हैं। पर पूरे जीवन के लिए नहीं होता। देश शब्द की यही व्याख्या की जाती है।

देशावकाश का एक अर्थ यह भी है, कि देश अर्थात् क्षेत्र का एक अंश और अवकाश अर्थात् स्थान। इस व्रत में जीवन भर के लिए गृहीत दिशा परिमाण अर्थात् क्षेत्र मर्यादा के एक अंश रूप स्थान की कुछ समय के लिए विशेष सीमा का निश्चय किया जाता है। अतः इसको देशावकाश व्रत कहते हैं। यह व्रत क्षेत्र मर्यादा को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोग रूप अन्य मर्यादाओं को भी संकुचित करता है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर न जाना, बाहर से किसी को अन्दर न बुलाना, न बाहर किसी को भेजना, क्रय और विक्रय न करना। सावध व्यापारों से अवकाश ग्रहण कर लेना।

### देशावकाशव्रत के अतिचारः

पूर्व वर्णित व्रतों की भाँति देशावकाश व्रत के भी पाँच अतिचार हैं। श्रावक इनको समझ तो लें, परन्तु इनका आचरण न करें। क्योंकि ये तो दोष रूप हैं। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

- |                    |                  |
|--------------------|------------------|
| १. आनयन प्रयोग     | २. प्रेषण प्रयोग |
| ३. शब्दानुपात      | ४. रूपानुपात     |
| ५. पुद्गल प्रक्षेप |                  |

(क) मर्यादा क्षेत्र से बाहर की वस्तु लाना, मंगवाना, आदि क्रिया आनयन प्रयोग है।

(ख) मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु का भेजना, लेजाना, प्रेषण प्रयोग है।

(ग) किसी को मर्यादित क्षेत्र से बाहर खड़ा या बैठा देखकर खौंसी या खकार आदि शब्द संकेत द्वारा, उसे बुलाने की चेष्टा करना। शब्द का अनुपात है।

(घ) मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्थित व्यक्ति को बुलाने के लिए हस्त, मुख एवं शीर्ष आदि का संकेत करना, रूप का अनुपात है।

(ङ) मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्थित व्यक्ति को बुलाने हेतु कंकर, कागज, वस्त्र आदि फैंकना, पुद्गल का प्रक्षेप कहा जाता है।

मनुष्य का जीवन जब अत्यन्त प्रवृत्तिमय बन जाता है, तब उसको शान्ति नहीं मिल पाती। लेकिन जब वह प्रवृत्ति को छोड़ कर निवृत्ति की ओर लौटता है, तब वह शान्ति का अनुभव करने लगता है। वैदिक परम्परा में, जो स्थिति एवं दशा एक वानप्रस्थ की होती है, कुछ वैसी ही स्थिति देशावकाशिक व्रत में होती है। संक्षेप में कह सकते हैं, कि यह भोग से योग की ओर उन्मुख होने की स्थिति है। घर बार के कोलाहल से हट कर, अपने अन्दर झाँकने की यह एक स्थिति विशेष और दशा विशेष है।

### श्रावक का पोषध व्रत

श्रावक के चार शिक्षाव्रतों में पोषध व्रत तृतीय शिक्षा-व्रत है। अन्य व्रतों से यह कठिन व्रत है। क्योंकि इसमें चार प्रकार के आहार का त्याग होता है। चार प्रकार आहार इस प्रकार से है—

१. अशन

२. पान

३. खाद्य

४. स्वाद्य

इस व्रत में इस चारों प्रकार के भोजन का प्रत्याख्यान होता है। श्रावक पर्व तिथियों पर पोषध व्रत की साधना करता है। शरीर के प्रसाधनों का त्याग करता है। समस्त आभूषणों का त्याग करता है। एकान्त में पोषध-शाला में रहता है। तप, जप, ध्यान, शास्त्र का स्वाध्याय करता है, और स्तोत्र का भी पाठ करता है। न कुछ खाना, न कुछ पीना। सूर्योदय से लेकर अगले दिन के सूर्योदय तक अर्थात् अष्ट प्रहर की यह अध्यात्म भाव की कठोर एवं कठिन साधना है। समस्त सावध क्रियाओं का इसमें त्याग होता है। पोषध के साथ उपवास शब्द भी जोड़ा जाता है, जिसका अर्थ है—पोषध व्रत में उपवास अर्थात् अनाहार अवश्य होता है, उसका पूरा रूप इस प्रकार है—पोषधोपवास व्रत। इस व्रत की साधना में स्थित श्रावक श्रमणभूत अर्थात् श्रमणवत् माना जाता है। क्योंकि इसमें ब्रह्मचर्य का भी पालन किया जाता है। परिग्रह का भी त्याग होता है।

### पोषध व्रत के अतिचार—

अन्य व्रतों की भाँति इसके भी पाँच अतिचार होते हैं, जिनका सेवन नहीं किया जाता—

१. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक।
२. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित, शय्या-संस्तारक।
३. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण भूमि अर्थात् स्थान विशेष।
४. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि अर्थात् स्थान विशेष।
५. पोषधोपवास सम्यक् अननुपालनता। यह पञ्चम अतिचार है।

(क) शय्या अर्थात् वसति, मकान और संस्तारक अर्थात् बिछौना, कंबल आदि का प्रतिलेखन अर्थात् प्रत्यवेक्षण-निरीक्षण न करना, अथवा विधिपूर्वक ठीक ढंग से न करना, अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित अतिचार है।

(ख) शय्या और संस्तारक को प्रमार्जित किए बिना, पोंछे बिना, अथवा बिना अच्छी तरह साफ किए, काम में लेना, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक अतिचार कहा गया है।

(ग) मल-मूत्र भूमि को उच्चार-प्रस्रवण भूमि कहा जाता है, उसके सम्बन्ध में भी चार प्रकार समझ लेना चाहिए।

(घ) पोषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना, पञ्चम अतिचार है।

इन सब अतिचारों को समझकर इनका आचरण नहीं करना चाहिए। प्रथम के चार अतिचारों में अनिरीक्षण अथवा दुर्निरीक्षण, और अप्रमार्जन तथा दुष्प्रमार्जन के कारण

हिंसा दोष की पूरी सम्भावना रहती है। छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं का विघात हो सकता है। उससे व्रत दूषित होता है। अतः श्रावक को सावधान होना चाहिए।

### पोषध की परिभाषा:

उपदेश प्रासाद ग्रन्थ में कहा गया है, कि जिससे धर्म की पुष्टि होती है, उसे पोषध कहा जाता है। वह पोषध व्रत चार प्रकार का होता है—आहार-पोषध, शरीर-सत्कार पोषध, ब्रह्मचर्य पोषध और अव्यापार पोषध। अथवा, यह भी कहा जा सकता है कि वह पोषध चार प्रकार से किया जा सकता है। इसकी साधना करने से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है।

### श्रावक का अतिथि संविभाग व्रत

श्रावक के चार शिक्षाव्रतों में से यह चतुर्थ शिक्षा-व्रत है। श्रावक के द्वादश व्रतों में से यह द्वादशम् व्रत माना गया है। इसको अन्तिम व्रत भी कहा जाता है। इसका पूरा नाम है—अतिथि संविभाग। संविभाग का अर्थ है—समान विभाजन। कम एवं अधिक विभाजन विषम विभाग होगा। विषम विभाग में राग और द्वेष होता है। संविभाग, समभाव से किया जाता है। संविभाग किसके लिए हो? वह अतिथि के लिए होता है। सामान्य भाषा में, अतिथि को अभ्यागत भी कहा जाता है। लेकिन इन दोनों शब्दों के अर्थ में और भाव में, अन्तर है। अभ्यागत वह होता है, जिसके आने की पूर्व सूचना होती है। अतिथि वह होता है, जिसके आने की तिथि अर्थात् समय निश्चित नहीं होता। इस प्रकार का अतिथि, श्रमण निर्ग्रन्थ ही हो सकता है। भोजन-वेला में समागत श्रमण को श्रावक पूज्य एवं गुरु समझकर, अपने भोजन में से भक्त-पान देता है, उसे अतिथि संविभाग व्रत कहा गया है।

### अतिथि संविभाग की परिभाषा:

उपदेश प्रासाद ग्रन्थ में कहा गया है कि अन्न आदि सामग्री प्राप्त होने पर, जो व्यक्ति सदा श्रमणों को दान देकर, बाद में स्वयं भोजन करता है, इस प्रकार का श्रावक का जो नियम होता है, उसे अतिथि संविभाग व्रत कहा गया है। यह श्रावक का मुख्य कर्तव्य है।

जो श्रावक अतिथि रूप श्रमण निर्ग्रन्थ को भोजन, वसति अर्थात् निवास स्थान, वस्त्र अर्थात् कंबल आदि और पात्र का नित्य प्रति दान करता है, उसका यह दान अतिथि संविभाग कहा जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने योग-शास्त्र में कहा है कि देखो, विचार करो, गोपाल संगम ने अपनी प्रियतर वस्तु क्षीरान्न, दान में, तपस्वी श्रमण को भाव-पूर्वक प्रदान की, उसके फल स्वरूप उसको कितनी ऋद्धि वृद्धि और सिद्धि मिली। यह अतिथि संविभाग चतुर्थ शिक्षाव्रत का कितना महत्तर लाभ है।

### अतिथि संविभाग के अतिचारः

श्रावक धर्म की साधना करने वाले को अतिचारों का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि अतिचार से व्रत भंग हो जाता है। संविभाग व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार से कथन किए गए हैं, जैसे कि—

- |                   |                 |
|-------------------|-----------------|
| १. सचित्त निक्षेप | २. सचित्त पिधान |
| ३. काल अतिक्रम    | ४. पर-व्यपदेश   |
| ५. मात्सर्य       |                 |

(क) दान न करने की भावना से कपट पूर्वक, श्रमण को देने योग्य पदार्थ को सचित्त वनस्पति आदि पर रख देना—सचित्त निक्षेप है।

(ख) भोजन आदि को सचित्त वस्तु से ढक देना—सचित्त पिधान है। पिधान का अर्थ है—ढक देना और निक्षेप का अर्थ है—रख देना।

(ग) अतिथि को कुछ न देने की भावना से भिक्षा के समय से पूर्व अथवा पश्चात् प्रार्थना करना—काल अतिक्रम है। अतिक्रम का अर्थ है—लांघना।

(घ) देना न पड़े इस भाव से अपनी वस्तु को दूसरे की कहना। दूसरे की वस्तु देकर अपनी बताना। व्यपदेश का अर्थ है—बहाना बनाना।

(ङ) दान देने की भावना न होने पर भी दूसरे के दान गुण की प्रशंसा होती सुनकर या देखकर ईर्ष्या भाव से दान करना भी दोष है।

निर्ग्रन्थ श्रमण को अतिथि क्यों कहा ? क्योंकि वह अध्यात्म साधना के लिए गृह-वास त्याग चुका है। अनगार बन कर तप और ध्यान की साधना में ही अपना समस्त समय एवं शक्ति लगा देता है। वह भ्रमणशील है, पद-यात्री है और उसके आने-जाने का भी पता नहीं लगता। अतः वह सच्चा अतिथि होता है। अपने साधर्मिक को भी दान देना चाहिए। करुणा वृत्ति से दीन-हीन भिखारी को भी देना चाहिए। दान करने से त्याग का अभ्यास होता चला जाता है।

### श्रावक का सल्लेखना व्रत

श्रावक का अन्तिम व्रत सल्लेखना या संलेखना होता है। द्वादश व्रतों के अन्त में, इसकी साधना की जाती है। द्वादश व्रतों से पहले सम्यक्त्व व्रत होता है, जहाँ से साधना प्रारम्भ की जाती है। अन्त में, संलेखना व्रत है, जहाँ पर साधना समाप्त हो जाती है। इस जीवन की अन्तिम साधना संलेखना है। सम्यक्त्व प्रारम्भ है, और संलेखना अन्त है। दोनों के मध्य में श्रावक के द्वादश व्रत हैं। यह ही श्रावक की साधना का क्रम रहा है। अतः श्रावक व्रतों में अन्तिम व्रत सल्लेखना, संलेखना या संथारा रहा है।

जीवन के अन्त समय में, मरण से पूर्व जो तपोविशेष की आराधना की जाती है, वह संथारा के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्र की परिभाषा में उसका स्वरूप इस प्रकार से

है-अपश्चिम-मारणान्तिक-सल्लेखना। अपश्चिम का अर्थ है-जिसके पश्चात् दूसरा न हो, अर्थात् सब से अन्तिम। मारणान्तिक का अर्थ है-मृत्यु के समय में होने वाली। सल्लेखना का अर्थ है-जिसके द्वारा कषाय कृश हों, उस प्रकार की आलोचना पूर्वक तपस्या विशेष। इस प्रकार अपश्चिम-मारणान्तिक-सल्लेखना का अर्थ होता है-मारणान्त के समय अपने भूतकालीन क्रिया-कलापों की सम्यक्तया आलोचना करके शरीर और कषाय को कृश करने के लिए की जाने वाली सबसे अन्तिम तपस्या। इसका अभिप्राय है, कि अन्तिम समय में भक्त पान का त्याग कर, पहले अन्न और बाद में जल का अथवा दोनों का एक साथ त्याग करके समाधि पूर्वक शान्त भाव से मृत्यु को प्राप्त करना। इस दृष्टि से संलेखना प्राणान्त अनशन है। इस प्रकार की मृत्यु को जैन आचार-शास्त्र में, समाधि-मरण एवं पण्डितमरण कहा गया है। इसको सामान्य भाषा में लोग संथारा भी कहते हैं। संथारा का अर्थ है-संस्तारक। संस्तारक का अर्थ है-बिछौना। संथारा में तीन बात होती हैं-घास का बिछौना, भक्त-पान का परित्याग और कषाय का त्याग। संथारा करने वाला व्यक्ति, घास का बिछौना बिछाकर, भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर शान्त चित्त से बैठकर अथवा लेटकर तप और जप तथा स्वाध्याय और ध्यान करते हुए इस साधना में तल्लीन हो जाता है।

संथारा की साधना में किसी भी प्रकार की बाध्यता नहीं है। किसी के दबाव में नहीं की जाती। किसी प्रकार की विवशता भी इसमें नहीं है। यह तो अन्तर् मन का उल्लास भाव एवं हर्ष भाव है। जब शरीर समस्त प्रकार की शक्ति खो बैठता है, बलहीन हो जाता है, जीवन अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी भारभूत हो जाता है। रोग से शरीर आक्रान्त हो जाता है, मृत्यु-क्षण निकटतर आता प्रतीत हो, तब संथारा किया जा सकता है। ज्ञानीजनों का विचार है, कि जब शरीर किसी काम का न रहकर, स्व-पर के लिए केवल भारभूत हो जाता है, तब उससे विमुक्त हो जाना ही कल्याणकर मार्ग है। साधक स्वयं ही अपनी अन्तः स्फुरणा से अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार हो जाता है। इसका नाम है-संथारा साधना। इस साधना में विवेक तथा जागरण की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना विवेक के संथारा परिहास भी बन जाता है। इसमें द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि-इन चारों की आवश्यकता है। मोह ममता को जीतना, साधारण बात नहीं हो सकती। द्रव्य ममता, शरीर ममता और परिवार ममता को जीतने वाला वीर साधक संथारा कर सकता है। संथारा काल में उपसर्ग और परीषहों की तीव्र पीड़ा की अनुभूति होने पर भी अपने चित्त की शान्ति को न खोना, यह वीरों का परिपथ कहा है। शास्त्र में श्रावक और श्रमण-दोनों के लिए इस सल्लेखना व्रत का समान विधान किया गया है।

### संथारा तथा आत्म-हत्या:

संथारा और हत्या, दोनों एक कभी नहीं हो सकते। फिर भी कतिपय भारतीय विद्वानों ने, कतिपय पश्चिमी विद्वानों ने संथारा जैसी आध्यात्मिक साधना को हत्या, आत्म-हत्या कहा है ? इसके तीन कारण हैं-

(अ) जैन परम्परा के साहित्य का गहन अध्ययन न होने से। उस साहित्य के मूल-स्रोत का परिचय न होने से। मूल ग्रन्थों का अध्ययन न होने से।

(ब) जैन परम्परा, जैन संस्कृति और उसके दीर्घकालीन इतिहास का परिज्ञान न कर सकने के कारण भी भ्रान्ति दूर नहीं की जा सकी।

(स) जैन आचार की, परिभाषाओं की मीमांसा, समीक्षा और अन्य धर्म के आचार की तुलना न होने से संधारा के विरोध में प्रचार होता चला गया।

वस्तुतः सल्लेखना, संलेखना या कि संधारा आत्म-हत्या, आत्म-घात एवं आत्म-हनन नहीं हो सकता। दोनों में भारी अन्तर है। आत्म-घात के मूल में क्रोध, द्वेष, अपमान और निराशा—ये कषाय भाव विद्यमान होते हैं। क्रोध और निराशा में ही व्यक्ति आत्म-हत्या करता है। संलेखना के मूल में कषाय का सर्वथा अभाव होता है। आत्म-हत्या चित्त की अशान्ति तथा अप्रसन्नता का द्योतक है, जबकि संधारा चित्त की शान्ति और प्रसन्नता का प्रतीक होता है। आत्म-घात में मनुष्य का अधःपतन होता है, जबकि संधारा में मनुष्य के जीवन का उत्कर्ष होता है। आत्म-घात विकृत चित्त वृत्ति का कुपरिणाम है, जबकि संधारा संस्कृत चित्त वृत्ति का सुपरिणाम होता है। संलेखना पूर्वक होने वाली मृत्यु को निष्कषाय मरण, पण्डित मरण और समाधिमरण कहा जाता है, जबकि आत्म-हत्या सकषाय मरण, बाल मरण एवं अज्ञान मरण है। आत्म-घात आवेश के कारण होता है, जबकि संधारा विवेक तथा शान्ति से सोच-विचार कर किया जाता है। क्योंकि जैन धर्म की साधना में पर-हत्या की भाँति स्व-हत्या को भी भयंकर तथा घोर पाप माना गया है।

### संलेखना के अतिचारः

सम्यक्त्व तथा द्वादश व्रतों की भाँति संलेखना व्रत के भी पाँच अतिचार माने जाते हैं। श्रावक को इन दोषों से दूर रहना चाहिए। इनका सेवन एवं आचरण नहीं करना चाहिए। अतिचार इस प्रकार हैं—

१. इह लोक आशंसा प्रयोग
२. पर लोक आशंसा प्रयोग
३. जीवित आशंसा प्रयोग
४. मरण आशंसा प्रयोग
५. काम भोग आशंसा प्रयोग

(क) इह लोक का अर्थ है—मनुष्य लोक अर्थात् वर्तमान जीवन। आशंसा का अर्थ है—अभिलाषा। प्रयोग का अर्थ है—प्रवृत्ति। मनुष्य लोक विषयक अभिलाषा रूप प्रवृत्ति। संलेखना में यह इच्छा करना कि आगामी भव में इसी लोक में, कनक, कीर्ति और भोग प्राप्त हों, प्रथम अतिचार है।

(ख) पर लोक में, अनागत जीवन में देव बनने की अभिलाषा करना। द्वितीय अतिचार है। संथारा में देव सुखों की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

(ग) अपनी प्रशंसा, पूजा तथा सत्कार होता देखकर, अधिक काल तक जीवित रहने की और पूजा-सत्कार पाने की अभिलाषा करना, तृतीय अतिचार है।

(घ) संथारा में अपनी प्रशंसा होती न देखकर, और भूख-प्यास के परीषह से आकुल-व्याकुल होकर शीघ्र मरण ही अभिलाषा करना, चतुर्थ अतिचार है।

(ङ) आगामी भव में मनुष्य सम्बन्धी और देव सम्बन्धी काम एवं भोग प्राप्त करने की अभिलाषा करना, पञ्चम अतिचार है।

श्रावक तथा श्रमण जीवन की यह अतिकठोर एवं अति कठिन साधना है। इसमें किसी भी प्रकार का चित्त विकार और तीव्र इच्छा नहीं होनी चाहिए। मोह-ममता का त्याग होने पर चित्त शान्त, प्रशान्त तथा उपशान्त होना चाहिए।





## ४. एकादश प्रतिमा : उपासक की उच्चतर साधना

जैन-शास्त्र की परिभाषा में गृहस्थ व्यक्ति को अगार एवं अगारी, सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती कहते हैं। किन्तु उसके विशिष्ट नाम हैं—उपासक एवं श्रावक। श्रावक की साधना तीन प्रकार की है—

(अ) नीति

(ब) धर्म

(स) अध्यात्म

१. नीति में, रीति और व्यवहार की गणना की जाती है। जीवन में लोक-नीति तथा लोक-व्यवहार की नितान्त आवश्यकता है। सर्व प्रथम मनुष्य का व्यवहार देखा जाता है। व्यवहार बहुत स्थूल होता है। अतः सर्वप्रथम उस पर ही नजर टिकती है। व्यवहार एवं नीति में तीन बात होती हैं—

(क) बोल-चाल

(ख) रहन-सहन

(ग) खान-पान

२. धर्म से अभिप्राय है, मनुष्य के आचार-विचार से। आचार और विचार दोनों मनुष्य की छवि के निर्माता हैं। आचार है, बाहर का जीवन और विचार है, अन्तर का जीवन। विचार बीज है, तो आचार अंकुर। आचार-विचार का समन्वित रूप धर्म कहा जाता है।

३. अध्यात्म का अर्थ है—आत्म-गत। आत्मा से संबद्ध को अध्यात्म कहा जाता है। नीति उच्च है, धर्म उच्चतर है और अध्यात्म उच्चतम है। अतः जीवन के तीन विभाग हैं—नीतिमान् जीवन, धर्मवान् जीवन और अध्यात्म जीवन।

श्रावक के नीतिमय जीवन में सप्त व्यसन का परित्याग। श्रावक के एक-विंशति गुण। श्रावक के पञ्चत्रिंशत् बोल, मार्गानुसारी के बोल। धर्ममय जीवन में पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों की गणना की जाती है। श्रावक की अध्यात्ममयी साधना है—एकादश प्रतिमाओं की।

**प्रतिमा की परिभाषा :**

प्राकृत का पडिमा शब्द, संस्कृत भाषा में प्रतिमा है। इसके दो अर्थ होते हैं—मूर्ति एवं प्रतिज्ञा। यहाँ प्रतिज्ञा अर्थ ही घटित होता है। प्रतिज्ञा का अर्थ है—संकल्प विशेष, अभिग्रह

विशेष, तप विशेष और साधना विशेष। यहाँ पर साधना विशेष अर्थ ही अभिप्रेत है। श्रावक जीवन की यह एक विशिष्ट साधना है—अगार से अनगार बनने की एक दिशा है, एक सोद्देश्य अन्तर् यात्रा है, मूल से शिखर की गति है, उपासक पोषध-शाला में जाकर अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के अतिरिक्त जिन प्रतिज्ञाओं को ग्रहण करता है, उन्हें पडिमा अर्थात् प्रतिमा तथा प्रतिज्ञा कहा गया है।

समवायांग सूत्र की अभयदेव विरचित वृत्ति में कहा गया है, कि जो श्रमण की उपासना करते हैं, वे उपासक कहलाते हैं। उपासकों की प्रतिज्ञा अथवा प्रतिमा, उपासक प्रतिमा हैं। उपासक की एकादश प्रतिमाओं का उल्लेख अनेक आगमों में है। अंग-शास्त्र में चतुर्थ अंग समवायांग सूत्र में और छेद सूत्रों में आचार-दशा में तथा आवश्यक सूत्र की व्याख्या में विशेष वर्णन उपलब्ध होता है। मुख्य रूप में उपासक दशांग सूत्र में वर्णन है। क्योंकि इस सूत्र में श्रावक की साधना का वर्णन किया है। उपासक दशांग सूत्र के अनुसार वर्णन इस प्रकार है—

- |                                |                                 |
|--------------------------------|---------------------------------|
| १. दर्शन प्रतिमा               | २. व्रत प्रतिमा                 |
| ३. सामायिक प्रतिमा             | ४. पोषध प्रतिमा                 |
| ५. प्रतिमा-प्रतिमा             | ६. अब्रह्म वर्जन प्रतिमा        |
| ७. सचित्त आहार वर्जन प्रतिमा   | ८. स्वयम् आरम्भ वर्जन प्रतिमा   |
| ९. प्रेष्य आरम्भ वर्जन प्रतिमा | १०. उद्दिष्ट भक्त वर्जन प्रतिमा |
| ११. श्रमणभूत प्रतिमा           |                                 |

### आचार-दशा में एकादश प्रतिमा :

छेद-सूत्रों में आचार में लगने वाले अतिचार-दोषों के प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है। छेद सूत्रों की संख्या के विषय में मत-भेद रहा है। छेद सूत्रों की संख्या छह है—निशीथ, महानिशीथ, कल्प, व्यवहार, पञ्चकल्प और जीत कल्प। चार संख्या इस प्रकार हैं—आचार-दशा, निशीथ, कल्प और व्यवहार। आचार दशा में प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है—

- |                          |                                  |
|--------------------------|----------------------------------|
| १. दंसण पडिमा            | २. वय पडिमा                      |
| ३. सामाइय पडिमा          | ४. पोसह पडिमा                    |
| ५. दिवा बंभचेर पडिमा     | ६. दिवा रत्ति बंभचेर पडिमा       |
| ७. सचित्त परिण्णाय पडिमा | ८. आरंभ परिण्णाय पडिमा           |
| ९. पेस परिण्णाय पडिमा    | १०. उद्दिष्ट भक्त परिण्णाय पडिमा |
| ११. समणभूय पडिमा         |                                  |

### निर्युक्ति व्याख्या ग्रन्थ :

आगमों पर सर्वप्रथम व्याख्या ग्रन्थ, आचार्य भद्रबाहु कृत निर्युक्ति हैं। दशवैकालिक मूल सूत्र पर भी निर्युक्ति उपलब्ध है, उसमें श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का एक गाथा सूत्र में वर्णन किया है-

- |                                 |                   |
|---------------------------------|-------------------|
| १. दंसण पडिमा                   | २. वय पडिमा       |
| ३. सामाइय पडिमा                 | ४. पोसह पडिमा     |
| ५. अबंभ पडिमा                   | ६. सचित्त पडिमा   |
| ७. आरम्भ पडिमा                  | ८. पेस पडिमा      |
| ९. उद्दिट्ट भक्त परिण्णाय पडिमा | १०. समण भूय पडिमा |
| ११. ०००००००००००                 |                   |

### आचार्य हेमचन्द्र सूरिकृत योग-शास्त्र :

योग-शास्त्र, आचार्य हेमचन्द्र सूरि की अमर कृति कही जा सकती है। यह ग्रन्थ द्वादश प्रकाशों में अर्थात् द्वादश अध्यायों में विभक्त है। योग के आधार पर इसमें श्रमण धर्म और श्रावक धर्म का भी वर्णन किया। श्रावक के सम्यक्त्वमूलक द्वादश व्रतों का और उनके अतिचारों का वर्णन किया है। श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन मूल में तो नहीं, टीका में है-

- |                                      |                                 |
|--------------------------------------|---------------------------------|
| १. दर्शन प्रतिमा                     | २. व्रत प्रतिमा                 |
| ३. सामायिक प्रतिमा                   | ४. पोषध प्रतिमा                 |
| ५. कायोत्सर्ग प्रतिमा                | ६. अब्रह्म वर्जन प्रतिमा        |
| ७. सचित्त आहार वर्जन प्रतिमा         | ८. स्वयं आरम्भ वर्जन प्रतिमा    |
| ९. भृत्य प्रेष्य आरम्भ वर्जन प्रतिमा | १०. उद्दिष्ट भक्त वर्जन प्रतिमा |
| ११. श्रमणभूत प्रतिमा                 |                                 |

### आचार्य समन्तभद्रकृत श्रावकाचार :

रत्न-करण्ड-श्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र की एक लघु अमर कृति है। इसके सप्तम परिच्छेद में श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन किया है-

- |                            |                              |
|----------------------------|------------------------------|
| १. दर्शन प्रतिमा           | २. व्रत प्रतिमा              |
| ३. सामायिक प्रतिमा         | ४. पोषध प्रतिमा              |
| ५. सचित्त त्याग प्रतिमा    | ६. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा |
| ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा      | ८. आरम्भ त्याग प्रतिमा       |
| ९. परिग्रह त्याग प्रतिमा   | १०. अनुमति त्याग प्रतिमा     |
| ११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा |                              |

### उपासक दशांग सूत्र में प्रतिमा वर्णन :

एकादश अंग सूत्र में उपासक दशा सूत्र सप्तम अंग है। इसके दश अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन में, प्रसिद्ध आनन्द श्रावक का और उसकी धर्मपत्नी शिवा का वर्णन विस्तार से किया गया है। श्रावक के सम्यक्त्वमूलक पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और श्रावक जीवन की उच्चतर एवं उत्कृष्टतर साधना एकादश प्रतिमाओं का वर्णन भी किया गया है। अन्त में संलेखना व्रत का भी वर्णन किया है। प्रतिमा, प्रतिज्ञा, श्रेणि, पद और भेद-विभाग—ये सब एकार्थक शब्द हैं।

### प्रतिमाओं का काल :

१. प्रथम प्रतिमा का काल एक मास है।
२. द्वितीय प्रतिमा का काल दो मास है।
३. तृतीय प्रतिमा का काल तीन मास है।
४. चतुर्थ प्रतिमा का काल चार मास है।
५. पञ्चम प्रतिमा का काल पाँच मास है।
६. षष्ठ प्रतिमा का काल छह मास है।
७. सप्तम प्रतिमा का काल सात मास है।
८. अष्टम प्रतिमा का काल आठ मास है।
९. नवम प्रतिमा का काल नव मास है।
१०. दशम प्रतिमा का काल दस मास है।
११. एकादशम प्रतिमा का काल एकादश मास है।

इस प्रकार समस्त प्रतिमाओं का पूरा काल पाँच वर्ष तथा छह मास होता है। प्रत्येक प्रतिमा के धारण से पहले उपासक के द्वारा पूर्व की प्रतिमा का यथाकाल, यथानियम, यथाविधि, यथाकल्प, और यथासूत्र, उसका अनुपालन करना चाहिए। उपासक को उसकी साधना में सदा सावधान, सजग, सचेत और अप्रमत्त रहना, परम आवश्यक है। साधनाकाल में, जो भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्ग और परीषह आ जाए, तो उसे शान्त, प्रशान्त एवं उपशान्त चित्त से सहन करना चाहिए। समभाव से सहन करने पर श्रावक के कर्मों की निर्जरा होती है।

१. दर्शन प्रतिमा—जीव और अजीव सप्त तत्व तथा नव पदार्थों पर यथार्थ श्रद्धान होना, सम्यग्दर्शन है, सम्यक्त्व है। जब उपासक सम्यग्दर्शन का निरतिचार अर्थात् शंका-कांक्षा आदि दोषों से रहित होकर, निर्दोष रूप में पालन करता है, तब उसके दर्शन प्रतिमा कही जाती है।

२. व्रत प्रतिमा—दर्शन प्रतिमा का पूरा अभ्यास कर लेने के बाद, उसका काल पूरा हो जाने पर श्रावक व्रत प्रतिमा को स्वीकार करता है। निरतिचार रूप में, पाँच अणुव्रत, तीन

गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है, यह व्रत प्रतिमा है। इसकी साधना करने से श्रावक अनेक गुणों का विकास करता है।

३. सामायिक प्रतिमा—दर्शन और व्रतों की साधना करते हुए उपासक सामायिक व्रत की विशेष साधना प्रारम्भ करता है। सूर्योदय की वेला में, मध्य वेला में और सूर्यास्त वेला में, अर्थात् त्रि-सन्ध सामायिक करता है। समभाव की साधना करता है। सामायिक व्रत का निरतिचार पालन करता है। तप, जप, पाठ, स्वाध्याय करता है। जीवन में समभाव का निरन्तर आचरण करता है। सामायिक की साधना, वीतराग भाव की साधना कही है।

४. पोषध प्रतिमा—श्रावक यथाशक्ति और यथाकाल तपस्या करता है। किन्तु पोषध रूप तप की साधना विशेष की जाती है। श्रावक पोषधशाला में रहकर पर्व तिथियों पर पोषध ग्रहण करता है। विशेष रूप में मास के दोनों पक्षों में अष्टमी और चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का परित्याग कर देता है। मौन रहकर आत्म-चिन्तन में लीन रहता है। सर्व प्रकार के सावद्य व्यापारों को छोड़ देता है। ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है। फूल माला एवं मुक्ता-माला आदि आभूषण रूप परिग्रह का परित्याग करता है। पोषध व्रत की साधना अष्ट प्रहर की होती है। इसमें तपोमय जीवन होता है।

५. प्रतिमा-प्रतिमा—जिस उपासक ने पोषध प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से अनुपालन किया है, वह इस प्रतिमा-प्रतिमा को धारण कर सकता है। जो उपासक प्रत्येक अष्टमी एवं चतुर्दशी की रात्रि में प्रतिमा की भाँति स्थिर, अचल और निष्कम्प रहता है, केवल दिन में भोजन करता है, ब्रह्मचर्य का पूरा पालन करता है, श्रमण के समान चोल पट्टा और चादर के वस्त्र पहनता है, काम भोगों की स्मृति भी नहीं करता। दिन में भी अधिक समय स्थिर आसन में ही व्यतीत करता है, जितकषाय और जितभय जिन भगवान् का ध्यान करता है, अथवा अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करता है, वह पञ्चम प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है। प्रतिमा में प्रतिमा की साधना होने से इसे प्रतिमा-प्रतिमा कहते हैं।

६. अब्रह्म वर्जन प्रतिमा—इस प्रतिमा को धारण करने वाला व्यक्ति रात्रि में भी शृंगार-चर्चा नहीं करता। स्त्रियों से अति परिचय नहीं रखता। शरीर शृंगार एवं विभूषा का परित्याग कर देता है।

७. सचित्त आहार परिवर्जन प्रतिमा—इसमें खाने-पीने की सचित्त वस्तुओं का त्याग होता है। सचित्त पदार्थों का उपभोग-परिभोग नहीं करता।

८. स्वयं आरम्भ वर्जन प्रतिमा—इसमें उपासक स्वयं तो किसी प्रकार आरम्भ नहीं करता, लेकिन आवश्यकता होने पर दूसरों से करा सकता है।

९. पर आरम्भ वर्जन प्रतिमा—इसकी साधना करने वाला साधक उपासक दूसरों से भी आरम्भ नहीं कराता। न करता है, और न कराता है। लेकिन अनुमोदना कर देता है, समर्थन कर देता है।

१०. पूर्व प्रतिमाओं का पालन करते हुए उपासक अपने उद्देश्य से तैयार किए हुए भोजन का जो त्याग करता है, वह उद्दिष्ट भक्त वर्जन प्रतिमा है। इसमें सिर का मुण्डन होता है, अथवा शिखा भर बाल रख लेता है। किसी विषय में पूछने पर वह यदि जानता है, तो कहता है, कि मैं जानता हूँ। यदि नहीं जानता है, तो कहता है, कि मैं नहीं जानता। वह संसार के प्रपञ्चों से दूर रहता है।

११. श्रमणभूत प्रतिमा—इस प्रतिमा में श्रावक सिर के बालों का लोच करता है, अथवा क्षुर-मुण्ड करा लेता है। श्रमण वेष को धारण करता है। श्रमण के जैसे ही उपकरण रखता है। कठोर तप त्याग और संयम का पालन करते हुए श्रमण जीवन व्यतीत करता है। अतः श्रमणभूत श्रमण कल्प और श्रमण सदृश कहा जाता है। यह अन्तिम प्रतिमा है।  
**श्रावक के जीवन का आदर्श :**

श्रावक तथा उपासक के जीवन का आदर्श श्रमण है। श्रमण के मार्ग का अनुगमन, अनुसरण, अनुचरण और अनुकरण—श्रावक के जीवन का एक उच्च आदर्श है। क्योंकि श्रमण त्याग, वैराग्य और तप के मार्ग पर चलने वाला एक महान् साधक है। श्रमण का आचार है—पञ्च महाव्रत, पच्चीस महाव्रत की भावना। पञ्च समिति एवं तीन गुप्ति। दशविध यतिधर्म, षड् आवश्यक, द्विविंशति परीषह जय, चार कषाय जय। द्वादश विध तप, द्वादश भावना और पञ्च चारित्र। पञ्च प्रकार का आचार। शान्ति और समाधि।

श्रावक का आचार है—सम्यक्त्व, पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत। जीवन की उच्चतर साधना एकादश प्रतिमा। श्रमण की भाँति उभय काल षड् आवश्यक। अतः श्रावक का जीवन भी तपोमय एवं त्यागमय होता है।

जैन आचार दो भागों में विभक्त है—श्रमणाचार और श्रावकाचार। आचार में अन्तर नहीं है, लेकिन पालन करने वाले की शक्ति, क्षमता और योग्यता को ध्यान में रख कर, उसका विभाजन किया गया है। साधु की अपनी सीमा है, उपासक की अपनी मर्यादा है। लक्ष्य दोनों का एक ही है—परम आनन्द रूप मोक्ष।



## ५. श्रावक की दिन-चर्या

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने स्व-प्रणीत योग-शास्त्र में, जैन दृष्टि से योग का सुन्दर वर्णन किया है। पतञ्जलि ने अपने योग-सूत्रों में, योग का विस्तार से प्रतिपादन किया था। वह वैदिक दृष्टि से किया गया था। बौद्ध परम्परा के आचार्य बुद्धघोष ने बौद्ध दृष्टि से स्व-रचित विशुद्धि मार्ग ग्रन्थ में योग का वर्णन किया था। आचार्य हेमचन्द्र ने जैन आचार को योग की परिभाषा में रूपान्तर करके प्रस्तुत किया था। तीनों ने अपनी-अपनी परम्परा के आचार को योग रूप में ढाल कर प्रस्तुत किया था। सर्व प्रथम यह कार्य पतञ्जलि ने किया था। उसका अनुसरण बौद्ध तथा जैनों ने किया था।

आचार्य हेमचन्द्र ने समग्र जैन आचार-शास्त्र को योग रूप में परिवर्तित करके महान् उपकार किया था। उनके योग-शास्त्र में श्रमणाचार और श्रावकाचार के समस्त तत्वों का समावेश हो गया है। श्रमण का संक्षेप में, श्रावक का विस्तार में वर्णन किया है। श्रावक के मूल गुण एवं उत्तर गुणों का कथन करने के बाद में श्रावक की दिनचर्या का सुन्दर प्रतिपादन किया है। दिनचर्या के तीन विभाग हैं—प्रभात काल, मध्य काल तथा सन्ध्या काल। किस समय क्या करणीय है ?

**प्रातःकाल क्या करें? :**

१. प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठना चाहिए। सूर्योदय से पूर्व ही शय्या का परित्याग कर दे। ब्राह्म मुहूर्त का अर्थ है, कि रात्रि के पञ्च दश मुहूर्त होते हैं, उनमें से चतुर्दशम् मुहूर्त को ब्राह्म कहा गया है। यह काल सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व का माना गया है। यह सर्व श्रेष्ठ समय होता है।

२. शय्या पर बैठकर ही पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करे। परमेष्ठी में पाँच तत्व हैं—अर्हन्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हें पाँच पद भी कहते हैं। महामन्त्र भी कहते हैं। नमस्कार मन्त्र, नवकार मन्त्र, परमेष्ठी मन्त्र और महामन्त्र—ये सब इसके नाम हैं। पाँच बार अथवा सात बार इसका स्मरण करे।

३. फिर शय्या से उठकर माता-पिता के चरण स्पर्श कर प्रणाम करे। गुरु-जनों को नमस्कार करे। समवयस्क जनों को 'नमो जिणाणं' कहे, जय जिनेन्द्र कहे। बाल-बच्चों को प्यार करे, प्रेम करे।

४. अपना नित्य कर्म करे। शुद्ध वस्त्र पहने। फिर तीन मनोरथों का चिन्तन करे, मनन करे—

(अ) वह दिन धन्य होगा, जब मैं महारम्भ और महापरिग्रह का त्याग करके लघुभूत बनूँगा।

(ब) वह दिन धन्य होगा, जब मैं अगार धर्म से अनगार धर्म में प्रवेश करूँगा। संसार के कर्म प्रपञ्च का त्याग करके शान्त जीवन व्यतीत करूँगा।

(स) वह दिन धन्य होगा, जब मैं जीवन के अन्तिम क्षणों में संथारा ग्रहण करूँगा। शान्त, प्रशान्त एवं उपशान्त होकर, समाधि प्राप्त करूँगा।

५. फिर श्रावक नगर में स्थित श्रमण एवं श्रमणी के दर्शन करे। धर्मस्थान में, मन्दिर तथा स्थानक में जाकर, धर्म प्रवचन सुने। त्याग करे।

**मध्य काल में क्या करें?**

१. मध्य काल में घर आकर, भोजन करे। भोजन से पूर्व पाँच या सात बार नमस्कार मन्त्र पढ़े। साधु-साध्वी को आता देखकर प्रसन्न हो जाए। सात-आठ कदम आगे जाकर भक्त-पान की प्रार्थना करे। अतिथि संविभाग व्रत को सफल करे।

२. साधर्मिक उपस्थित हो, तो उसको भी भोजन कराए। उसको सहयोग प्रदान करे।

३. द्वार पर याचक एवं भिखारी उपस्थित हो, तो उसको भी करुणा वृत्ति से दान करे।

४. नित्य प्रति दान करना श्रावक का परम कर्तव्य है। दान करने से त्याग का अभ्यास बढ़ता है। अपनी शक्ति के अनुसार दान करे।

५. फिर थोड़ा विश्राम करके कुछ समय स्वाध्याय करे। जिन-वाणी का अध्ययन करे। अध्यात्म ग्रन्थों का वाचन करे। चिन्तन-मनन करे। मध्य काल की सामायिक करे। ध्यान करे।

**सायं काल में क्या करें?**

१. सायं काल में भोजन करना हो, तो दिवा भोजन करे, रात्रि में भोजन न करे। सम्भव हो, तो रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग करे, अन्यथा तो त्रिविध आहार का प्रत्याख्यान करे। छना पानी ग्रहण करे, कदापि अनछना पानी ग्रहण न करे।

२. फिर सूर्यास्त से पूर्व ही धर्म स्थान मन्दिर, स्थानक एवं उपाश्रय तथा पोषध-शाला में पहुँच कर, षड् आवश्यक करे। स्तोत्र पाठ करे। आगमों का स्वाध्याय करे। अध्यात्म चर्चा करे। धार्मिक प्रश्नोत्तर करे। श्री संघ के प्रेम और गौरव की बात-चीत करे। किसी की निन्दा आलोचना न करे।

३. फिर अपने घर लौटकर अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करे। रुग्ण व्यक्ति की सेवा करे। घर में सब की सुख-साता पूछे।

४. फिर तीन प्रकार की जागरिका का विचार करे। तीन जागरण इस प्रकार हैं—

(अ) धर्म जागरण—धर्म ही कल्याणकर है। धर्म का पूरा परिपालन करे। वीतराग धर्म ही सच्चा धर्म है। धर्म ही मेरा मित्र है।



(ब) कुटुम्ब जागरण—परिवार और परिजन के प्रति मेरा जो कर्तव्य कर्म है, उसका मैं भली भाँति पालन-अनुपालन करता हूँ, कि नहीं। परिवार का भरण, पोषण एवं शिक्षण आदि कराना, मेरा परम कर्तव्य कर्म है।

(स) राष्ट्र जागरण—यह राष्ट्र मेरी जन्म भूमि है, मेरी पितृ-भूमि है, मातृ-भूमि है। इसके अन्न-जल पर ही मेरा जीवन टिका है। इसकी रक्षा करना, इसका गौरव बढ़ाना मेरा परम कर्तव्य है। इसकी स्वतन्त्रता में, मेरी स्वतन्त्रता है।

५. रात्रि वेला में, इतना करने के बाद में सब बिकल्पों को छोड़ कर, सब चिन्ताओं को दूर कर शयन करे, निद्राधीन हो जाए।

### षड् आवश्यक :

अवश्यमेव करणीय कर्म को अर्थात् क्रिया को आवश्यक कहा गया है। चार मूल सूत्रों में से, एक आवश्यक सूत्र भी है, जिसमें षड् आवश्यक करने का विधान किया गया है। श्रावक और श्रमण—दोनों को उभयवेला में यह करना चाहिए। श्रमण के लिए तो यह अनिवार्य है, व्रती श्रावक के लिए भी आवश्यक है। संक्षेप में इसको प्रतिक्रमण कहा जाता है। प्रतिक्रमण षड् आवश्यकों में से एक आवश्यक होता है। श्रावक एवं श्रमण की दिनचर्या का अनिवार्य अंग माना गया है। सूत्रों में षड् आवश्यक का कथन इस प्रकार है—

- |               |                      |
|---------------|----------------------|
| १. सामायिक    | २. चतुर्विंशति स्तवन |
| ३. वन्दन      | ४. प्रतिक्रमण        |
| ५. कायोत्सर्ग | ६. प्रत्याख्यान      |

समत्व-भाव की साधना को सामायिक कहा गया है। इससे चित्त शान्त, प्रशान्त एवं उपशान्त रहता है। तीर्थकरों की स्तुति को स्तवन कहते हैं। तीर्थकर धर्म के संस्थापक होते हैं। पथ के आलोक होते हैं। जीवन के कल्याणकर होते हैं। धर्म के उपदेष्टा हैं। वन्दन को भी एक आवश्यक माना गया है। वन्दन गुरु को किया जाता है। क्योंकि वह साधना मार्ग का उपदेशक है। जीवन में, अज्ञान से एवं प्रमाद से लगने वाले दोषों की आलोचना को प्रतिक्रमण कहा गया है। अशुभ से शुभ में लौटने को प्रतिक्रमण कहते हैं। यह अतिचारों का प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग ध्यान है। प्रत्याख्यान एक प्रकार का त्याग है। उसके दश भेद हैं। प्रतिक्रमण पाँच है—

- |                          |                           |
|--------------------------|---------------------------|
| १. दैवसिक प्रतिक्रमण     | २. रात्रिक प्रतिक्रमण     |
| ३. पाक्षिक प्रतिक्रमण    | ४. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण |
| ५. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण |                           |

### श्रावक के प्रतिदिन के नियम

भारत के समस्त धर्मों में अपनी-अपनी परम्परा के अनुरूप, अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार, मनुष्य के कल्याण, विकास तथा अभ्युत्थान के लिए यम, नियम और संयम

को नितान्त आवश्यक माना है। मनु ने अपनी स्मृति में दश नियमों का विधान किया है। बौद्ध परम्परा में पञ्च शील, अष्ट शील और दश शीलों का विधान किया गया है। जैन परम्परा के आचार-शास्त्र में श्रमण के दश धर्मों का विधान किया गया है। दश यति-धर्म जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। श्रावक के लिए चतुर्दश नियमों का विधान है। यम का अर्थ है—व्रत। व्रतों का ग्रहण जीवन में एक बार किया जाता है, जो जीवन भर के लिए होते हैं। नियम वह है, जो प्रति दिवस स्वीकार किए जाते हैं। केवल दिन भर के लिए। इन चतुर्दश नियमों में छोटे-बड़े सभी प्रकार के नियम हैं। इनको रोज-रोज स्वीकार करने से और उनका अनुपालन करने से मनुष्य में त्याग भावना बढ़ती है। धर्म का लक्ष्य है, कि मनुष्य को भोग से त्याग की ओर ले जाए। चतुर्दश नियम इस प्रकार हैं—

- |                 |            |
|-----------------|------------|
| १. सचित्त त्याग | २. द्रव्य  |
| ३. विकृति       | ४. उपानत्  |
| ५. ताम्बूल      | ६. वस्त्र  |
| ७. कुसुम        | ८. वाहन    |
| ९. शयन          | १०. विलेपन |
| ११. ब्रह्मचर्य  | १२. दिशा   |
| १३. स्नान जल    | १४. भक्त   |

गृहस्थ जीवन में सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, उक्तका मर्यादा की जाती है। जैसे कि फल, फूल, मूल, कच्चा जल—इनकी मर्यादा करे। द्रव्य में, रोटी, दाल और भात आते हैं। विकृति, वह है, जो शरीर में विकार उत्पन्न करे। जैसे कि दूध, दही, घी और तेल। मक्खन महाविकृति है। मदिरा और मांस का तो जैन धर्म में सर्वथा ही प्रबल निषेध किया गया है। जूतों की भी मर्यादा करे। चमड़े के जूते न पहने। पहनने-ओढ़ने तथा बिछाने के वस्त्रों की मर्यादा करे। खाने का पान ताम्बूल कहा जाता है। उसकी भी मर्यादा करे। कुसुम की माला की मर्यादा करे। माला से शृंगार बुद्धि उत्पन्न होती है। फूल और इतर की मर्यादा करे। वाहन दो प्रकार के होते हैं—सचित्त और अचित्त। जैसे कि घोड़ा, हाथी एवं ऊँट आदि सचित्त होते हैं। जहाज, मोटर एवं रेल आदि अचित्त होते हैं। इनकी भी मर्यादा करे। श्रमण को वाहन का सर्वथा त्याग होता है। वह तो पाद-विहार ही करता है। शयन का अर्थ है—पलंग, खाट और बिछौना आदि की मर्यादा करे। विलेपन का अर्थ है—चन्दन, उबटन, तेल आदि की मर्यादा करे। श्रावक को पर-नारी और वेश्या आदि के सेवन का सर्वथा त्याग होता है। अपनी पत्नी के साथ भी मर्यादित मैथुन का सेवन करे। पर्व तिथियों पर श्रावक ब्रह्मचर्य का परिपालन करे। दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा भी करे। स्नान जल का अधिक खुलकर, व्यर्थ ही सचित्त जल एवं अचित्त जल का भी दुरुपयोग न करे। भक्त-पान का अर्थ है—खान-पान अर्थात् भोजन और पीने का पानी की भी मर्यादा करे।

चतुर्दश नियमों का अथवा इनमें से कुछ का रोज पालन करे। जो वस्तु उपभोग-परिभोग के लिए खुली रखनी हो, उसके उपरान्त सब वस्तुओं का परित्याग कर दे। जो वस्तु खुली रखनी हो, उसकी सीमा एवं मर्यादा कर ले।

### सप्त व्यसन त्याग

जैन धर्म में समस्त व्यसनों के परित्याग का सुन्दर उपदेश दिया गया है। व्यसन शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, लेकिन दो अर्थ तो अति प्रसिद्ध हैं—प्रथम है, किसी भी प्रकार की बुरी आदत। आदत के परवश होकर, मनुष्य, पशु जैसा बन जाता है। उसे भले-बुरे का जरा भी ध्यान नहीं रहता। वह दारुण पापों में फँस कर अपने अमूल्य मानव जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। व्यसन शब्द का दूसरा अर्थ होता है—संकट, कठिन संघर्ष और सहसा आ पड़ने वाली आपत्ति एवं दुःख। इस संदर्भ में भी वह जीवन तत्व का शोषण करता है। जैन धर्म की उद्घोषणा है, कि ये सात व्यसन मनुष्य की दुर्गति के कारण हैं, नरक में जाने के कारण हैं। सप्त व्यसनों का सेवन करने वाला व्यक्ति श्रावक तो क्या, मनुष्य कहलाने का अधिकार भी नहीं रखता। श्रावक-व्रत ग्रहण करने के पूर्व ही सप्त व्यसनों का परित्याग कर देना परम आवश्यक माना गया है। वे सप्त व्यसन इस प्रकार से कहे गए हैं—

- |                                  |                    |
|----------------------------------|--------------------|
| १. धूत-क्रीड़ा अर्थात् जुआ खेलना | २. चोरी करना       |
| ३. शिकार खेलना                   | ४. मांस-भक्षण करना |
| ५. मदिरा-पान करना                | ६. पर-नारी रति     |
| ७. वेश्या-गमन                    |                    |

जिसको जुआ खेलने की आदत होती है, उसे चोरी करनी पड़ती है। मांस खाने वाले व्यक्ति को शिकार भी करनी पड़ती है। जो मदिरा पान करता है, उसे पर-नारी का सहवास करने की और वेश्या-गमन की भी आदत पड़ जाती है। ये सातों महापाप होते हैं। जुआ से अपरिग्रह व्रत भंग होता है, चोरी से अस्तेय व्रत भंग होता है, मांस और मदिरा से अहिंसा व्रत भंग होता है और पर-नारी एवं वेश्या से ब्रह्मचर्य व्रत भंग होता है।

### श्रावक के एकविंशति गुण

जैन परम्परा के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में श्रावक के एकविंशति गुणों का वर्णन किया है। ये समस्त गुण व्यवहार और नीति-रीति के नियामक माने जाते हैं। इनका अभ्यास, शिक्षण और आचरण नितान्त आवश्यक है। आचार्य नेमिचन्द्र सूरि ने प्रवचनसारोद्धार में श्रावक के गुणों का कथन इस प्रकार से किया है, कि प्रत्येक श्रावक धीरे-धीरे अभ्यास करके उन्हें अपने जीवन में उतार सकता है। वस्तुतः मानव जीवन के ये नैतिक नियम हैं—

१. अक्षुद्रता अर्थात् हृदय की उदारता
२. स्वस्थता शरीर और मन की
३. सौम्यता—कटुता और कठोरता का अभाव
४. लोकप्रियता
५. अक्रूरता अर्थात् कोमल भाव
६. पाप-भीरुता
७. अशठता अर्थात् सरलता
८. दक्षता चतुरता
९. लज्जा-शीलता लज्जावान्
१०. दया-शीलता दयावान्
११. गुणों का अनुराग
१२. प्रिय संभाषण
१३. मध्यस्थ भाव
१४. दीर्घदर्शिता, विचार कर काम करना
१५. सत्यभाषी या मधुरभाषी
१६. विनम्रता विनयवान्
१७. विशेषज्ञता अवसर को जानने वाला
१८. वृद्ध-सेवा भावी या अनुगामी
१९. कृतज्ञता
२०. परहितकारी या परोपकारी
२१. लब्ध-लक्ष्य—लक्ष्य प्राप्त करने वाला

जैन आचार-शास्त्र मनुष्य जीवन के व्यवहार एवं नीति की उपेक्षा करके नहीं चलता। ये गुण व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी हैं। अध्यात्म साधना के मन्दिर में प्रवेश पाने के लिए भव्य प्रवेश द्वार भी कहे जा सकते हैं।



## ६. श्रावक का सम्यक्त्व व्रत

आचार्य उमास्वाति ने स्व-प्रणीत तत्त्वार्थ सूत्र में, प्रथम अध्याय के द्वितीय सूत्र में, सम्यग्दर्शन का अर्थात् सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार से किया है—तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वभूत जो अर्थ अर्थात् पदार्थ, उन पर या उनमें श्रद्धान करना, निष्ठा एवं आस्था रखना, सम्यक्त्व है, सम्यग्दर्शन है, यथार्थ दृष्टि है। किसी भी व्रत को ग्रहण करने से पूर्व सम्यग्दर्शन का होना, परम आवश्यक माना गया है, जिन-आगम में। वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान अर्थात् विश्वास रखना, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना, सम्यग्दर्शन है। यही सम्यक्त्व है।

आवश्यक सूत्र में, सम्यक्त्व का स्वरूप इस प्रकार से प्रतिपादित किया है, कि राग-द्वेष के विजेता अर्हन् को देव समझना, धर्म का मार्ग बताने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण को गुरु समझना और वीतराग कथित तत्वों को सत्य समझना, उन पर रुचि रखना—यही सम्यक्त्व है। एक अन्य प्रकार से भी सम्यक्त्व का लक्षण किया जाता है। जैसे कि आप्त, आगम एवं आज्ञा पर-पूरा विश्वास रखना। यथार्थ वक्ता और यथार्थ दर्शी को जिन शासन में आप्त कहा गया है। इस प्रकार अर्हन् वीतराग और सर्वज्ञ ही वस्तुतः आप्त पुरुष हैं। आप्त पुरुष की वाणी को आगम कहा जाता है। आगम में जो विधि और निषेध किया गया है, वही आज्ञा है। इन तीनों पर अपार आस्था को सम्यग्दर्शन, श्रद्धान और सम्यक्त्व कहते हैं।

### सम्यक्त्व के पाँच लक्षण :

सम्यग्दर्शन आत्मा का निज गुण है। उसका पता कैसे लगे, कि इस जीव में वह है, और इसमें नहीं है। अतः शास्त्रकारों ने सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण बताए हैं—

१. प्रशम
२. संवेग
३. निर्वेद
४. अनुकम्पा
५. आस्तिकता

कषाय की मन्दता, उपशमता और क्षीणता को प्रशम कहा गया है। क्रोध न हो, या कम हो, मान न हो, या कम हो, माया न हो, या कम हो, लोभ न हो, या बहुत कम हो। संसार के पदार्थों पर रुचि न होकर, मोक्ष में रुचि को संवेग कहते हैं। विषय और कषाय भाव से विरक्ति को निर्वेद कहा है। संसार के सहाय-हीन प्राणियों पर करुणा को अनुकम्पा कहते हैं। आत्मा की त्रिकाल सत्ता पर विश्वास को आस्तिकता कहते हैं।

## सम्यक्त्व के अतिचार :

सम्यक्त्व के पाँच अतिचार होते हैं। ये सम्यक्त्व को मलिन बनाते हैं। ये सम्यक्त्व के दोष हैं। श्रावक इनको समझले, पर इनका आचरण कभी न करे। पाँच अतिचार इस प्रकार से हैं—

- |                     |                      |
|---------------------|----------------------|
| १. शंका             | २. कांक्षा           |
| ३. विचिकित्सा       | ४. पर पाषण्ड प्रशंसा |
| ५. पर पाषण्ड संस्तव |                      |

अध्यात्म साधना के फल में संदेह करना। मोक्ष की सत्ता में अविश्वास करना, लोक और परलोक को स्वीकार न करना—यह शंका अतिचार है। अपने धर्म के व्रत, नियम और संयम को कठोर एवं कठिन समझ कर दूसरे सम्प्रदायों में इधर-उधर भटकना—यह कांक्षा अतिचार है। लम्बे समय तक भी साधना करने पर उसका फल न मिलने पर, फल में संदेह करना, इसका फल मुझे मिलेगा, कि नहीं मिलेगा—यह विचिकित्सा अतिचार है। किसी अन्य सम्प्रदाय के प्रपञ्ची तथा पाखण्डी धर्म गुरु की ऋद्धि, सिद्धि और थोथे चमत्कार की बात सुनकर उससे प्रभावित हो जाना, उसका अनुगामी हो जाना—यह पर पाषण्ड प्रशंसा अतिचार है। ढोंगी धर्म गुरु के पास स्वयं बार-बार जाना, और दूसरे भोले लोगों को लेजाकर पथ-भ्रष्ट करना—यह पर पाषण्ड संस्तव अतिचार है।

## श्रावक के पाँच अभिगम

एकादश अंगों में, भगवती सूत्र, जिसका अपर नाम, व्याख्या-प्रज्ञप्ति भी कहा जाता है, उसे पञ्चम अंग सूत्र भी कह सकते हैं, उसके द्वितीय शतक के पञ्चम उद्देशक के सूत्र १०९ में, पञ्च अभिगमों का वर्णन किया गया है। अभिगम शब्द का अर्थ है—संमुख जाना, सामने जाना। किसके संमुख जाना, किसके अभिमुख होना, किसके उन्मुख होना ? धर्मगुरु के संमुख जाना, और धर्मस्थान के अभिमुख जाना। जहाँ भगवान् तीर्थकर धर्म देशना करते हैं, उस समवसरण भूमि की ओर जाना, श्रमण-श्रमणी गुरु जहाँ उपदेश देते हों, प्रवचन करते हों, वहाँ जाने को अभिगम कहते हैं। आज की भाषा में, मन्दिर उपाश्रय और स्थानक की ओर जाना। वहाँ पहुँचने से पूर्व, उसमें प्रवेश करने पूर्व, पाँच अभिगमों का परिपालन करना, परम आवश्यक माना गया है। जैसे कि—

१. सचित्त द्रव्य का त्याग करना
२. अचित्त द्रव्य का त्याग करना
३. उत्तरासंग करना
४. गुरु के संमुख होते ही हाथ जोड़ना
५. मन को एकाग्र करके प्रवचन सुनना

इन पाँच नियमों को अभिगम कहते हैं। सचित्त द्रव्य क्या है? पुष्प, फल, फूलों की माला। मुख में ताम्बूल रखकर चबाते जाना। इनका त्याग ही सचित्त का त्याग होता। कच्चा पानी भी तो सचित्त द्रव्य है। अचित्त द्रव्य क्या है? छत्र, चँवर, शस्त्र और उपानत् अर्थात् जूते एवं चप्पल। ये सब अहंकार और अविवेक के प्रतीक माने जाते हैं। उत्तरासंग का अर्थ है—कँधों पर पड़ा दुपट्टा, जिससे वन्दन करते समय, मुख का आच्छादन किया जा सकता है, अथवा करना चाहिए। तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय और गुरु को वन्दन करना, हाथ जोड़ना, विनय धर्म कहा गया है। विनय समस्त गुणों का मूल माना जाता है। प्रवचन सुनते समय मन भी एकाग्र हो।

### सम्यक्त्व की षड् भावना

प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ में और धर्म संग्रह ग्रन्थ में, सम्यक्त्व की षड् भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। यहाँ पर भावना का अर्थ है—बार-बार अभ्यास करना। विचारणा और चिन्तना करना। अभ्यास के करने से अस्थिर होता सम्यक्त्व फिर स्थिर हो जाता है। श्रावकों को इन षड् भावनाओं का अभ्यास अनुदिन करना चाहिए। भावनाओं के बार-बार अभ्यास से बुझता हुआ सम्यक्त्व दीपक स्थिर होकर प्रकाश देता है। षड् भावना इस प्रकार हैं—

१. सम्यक्त्व—धर्म रूप वृक्ष का मूल है
२. सम्यक्त्व—धर्म रूप नगर का द्वार है
३. सम्यक्त्व—धर्म रूप प्रासाद की नींव है
४. सम्यक्त्व—धर्म रूप जगत का आधार है
५. सम्यक्त्व—धर्म रूप वस्तु का पात्र है
६. सम्यक्त्व—चारित्र्य रूप धर्म का कोष है

यहाँ पर उपमाओं के द्वारा सम्यक्त्व की महिमा तथा गरिमा का वर्णन किया गया है। जो सत्य, जो तथ्य और जो तत्व, उपदेश देकर नहीं समझाया जा सकता है, उसको उपमा, रूपक और दृष्टान्त—इन तीन अलंकारों द्वारा सहज ही सुगम तथा सुबोध बनाकर समझाया जा सकता है। यहाँ छह उपमाएँ या छह रूपक या छह दृष्टान्त हैं। जिनके द्वारा गहन गम्भीर सम्यक्त्व को समझाया गया है। उपमाएँ छह इस प्रकार से हैं—

- |          |          |
|----------|----------|
| १. मूल   | २. द्वार |
| ३. नींव  | ४. आधार  |
| ५. पात्र | ६. कोष   |

सम्यक्त्व मूल है, द्वार है, नींव है, आधार है, पात्र है और कोष अर्थात् निधि है।

## मिथ्यात्व का फल

प्रकाश का विरोधी अन्धकार है, शीत का विरोधी ताप है, पुण्य का विरोधी पाप है, ज्ञान का विरोधी अज्ञान है, धर्म का विरोधी अधर्म है, और सम्यक्त्व का विरोधी मिथ्यात्व है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने मिथ्यात्व का लक्षण इस प्रकार किया है, कि अदेव को देव मानना, अगुरु को गुरु मानना और अधर्म को धर्म मानना—निश्चय ही मिथ्यात्व है। योग-शास्त्र में, आचार्य ने कहा है कि मिथ्यात्व ही परम रोग है, परम अन्धकार है, परम शत्रु है, और परम विष है।

### मिथ्यात्व का लक्षण :

अध्यात्म सार ग्रन्थ में कहा गया है, कि जो व्यक्ति छह बातों को मानता है, वह मिथ्यात्वी कहा गया है। वह इन छह बातों पर विश्वास नहीं करता। लोक, सिद्ध, तर्कसिद्ध, शास्त्र-सिद्ध और अनुभव-सिद्ध, इन छह बातों को स्वीकार न करने वाला मिथ्यात्वी होता है। अध्यात्म सार ग्रन्थ में, प्रबन्ध ४ में श्लोक ६ में षट् पद ये हैं—

- |                                 |                                 |
|---------------------------------|---------------------------------|
| १. नास्ति—अर्थात् आत्मा नहीं है | २. न नित्य—वह नित्य नहीं है     |
| ३. न कर्ता—वह कर्ता नहीं है     | ४. न भोक्ता—वह भोक्ता नहीं है   |
| ५. न मोक्ष—मोक्ष नहीं है        | ६. न उपाय—मोक्ष का उपाय नहीं है |

आत्मा प्रमाण-सिद्ध है, तर्क-सिद्ध है और अनुभव-सिद्ध भी है। लेकिन मिथ्यात्वी आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। शरीर, जो कि पञ्चभूतात्मक है, उसी को आत्मा कहता है। अतः आत्मा नित्य भी नहीं है, क्योंकि शरीर तो नष्ट होता, देखा जाता है। वह कर्म का कर्ता भी नहीं है। कर्म फल का भोक्ता भी नहीं है। संसार तो प्रत्यक्ष है, इन्द्रिय-गम्य है, लेकिन उसका प्रतिपक्ष मोक्ष नहीं है, क्योंकि जब वह बन्ध ही नहीं, तब मोक्ष किसका ? अतः मोक्ष नहीं है। उसका उपाय अर्थात् मार्ग एवं साधन भी नहीं है। क्योंकि जब साध्य ही नहीं, तब साधन किसका और कैसा ? जिस व्यक्ति को आत्मा की सत्ता पर और उसकी नित्यता पर विश्वास नहीं होता, वह मिथ्यात्वी होता है। जो आत्मा को कर्म का कर्ता, और कर्म फल का भी भोक्ता नहीं मानता, वह मिथ्यात्वी होता है। जो व्यक्ति संसार के प्रतिपक्षीभूत मोक्ष को और उसके उपाय एवं साधन को नहीं मानता, वह मिथ्यात्वी होता है। जिसमें सत्य के विपरीत धारणा हो, वह मिथ्यात्व है, और जिसमें मिथ्यात्व हो, वह मिथ्यात्वी होता है।

### मिथ्यात्व का फल :

मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। जन्म और मरण का कारण है। दारुण दुःख का कारण है। एक आचार्य का कथन है, कि जैसे शरीर में काँटा गड़ने से दुःख होता है, वैसे ही आत्मा का शल्य अर्थात् काँटा मिथ्यात्व होता है। मिथ्यात्व के साथ में माया और निदान अर्थात् भोग-लालसा भी आत्मा के शल्य हैं। तीनों को निकाल फेंकने पर ही शान्ति और



समाधि की प्राप्ति हो सकती है। इसी में आत्मा का कल्याण है। तत्वामृत ग्रन्थ के श्लोक ५३ में कहा गया है, कि मिथ्यात्व, संसार का मूल कारण है, परम बीज है। मोक्ष की अभिलाषा करने वाले को मिथ्यात्व का त्याग कर देना चाहिए। अतः मिथ्यात्व को छोड़कर, अपनी आत्मा को निर्मल करना चाहिए। मिथ्यात्व का परित्याग कैसे किया जाए? उसके उपाय क्या हैं? इसके विषय में कहा गया है, कि उसके चार उपाय हैं—

- |                         |                              |
|-------------------------|------------------------------|
| १. शास्त्र का स्वाध्याय | २. संयम का परिपालन           |
| ३. तप निर्जरा का कारण   | ४. अर्हन् एवं सिद्ध की भक्ति |

मिथ्यात्व का परित्याग ही शुद्ध सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व का त्याग परम आवश्यक है। मिथ्यात्व रूप अन्धकार के नष्ट होते ही सम्यक्त्व का प्रकाश प्रकट हो जाता है। सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही व्रतों की साधना प्रारम्भ हो जाती है।



## ७. मार्गानुसारी के पैंतीस बोल

श्रावक व्रत ग्रहण करने से पहले श्रावक बनने की भूमिका तैयार करनी चाहिए। भवन के निर्माण के पूर्व ही उसकी आधार-शिला रखना परम आवश्यक होता है। चित्र बनाने के पूर्व भित्ती को स्वच्छ एवं साफ किया जाता है। शिल्प-कला का यह नियम होता है, कि मूर्ति तैयार करने के पूर्व मूर्तिकार प्रस्तर पर हथौड़ा और छेनी चलाकर उसको तराशता है, तभी उसमें से सुन्दर मूर्ति प्रकट होती है। जीवन के निर्माण का भी यही सिद्धान्त है, कि उसको खोदना पड़ता है, स्वच्छ करना होता है, तराशना पड़ता है, तभी उसमें से शील की शालीनता, चारित्र के चन्दन की महक और सुन्दर आचार की सुषमा फूट निकलती है। इसके लिए तीन बातों का होना आवश्यक है, जैसे कि—

(क) मार्गानुसारी जीव के बोल

(ख) श्रावक बनने योग्य गुण

(ग) तत्व-त्रय पर अगाध आस्था

आचार्य हरिभद्र ने स्व-रचित धर्म बिन्दु प्रकरण ग्रन्थ में और आचार्य हेमचन्द्र ने स्व-प्रणीत योग-शास्त्र में मार्गानुसारी के पैंतीस बोलों का प्रतिपादन किया है। मार्गानुसारी का अर्थ है, मार्ग का अनुसरण करने वाला जीव। वे पैंतीस बोल इस प्रकार से हैं—

१. न्याय एवं नीति से धन का उपार्जन करे
२. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करे
३. कुल-शील में तुल्य एवं भिन्न गोत्र में विवाह करे
४. पाप कार्यों से भय-भीत रहे
५. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे
६. किसी की भी निन्दा न करे, विशेषतः राजा की
७. जो स्थान न एकदम खुला हो, न ढका हो, वहाँ पर घर बनाए
८. घर से बाहर निकलने के द्वार बहुत-से नहीं होने चाहिए
९. शीलवान् पुरुषों की संगत में रहे
१०. माता-पिता की सेवा-भक्ति करे
११. जहाँ चित्त शान्त न रहे, उस स्थान में वास न करे
१२. निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति न करे

१३. आय से कम व्यय करे
१४. अपनी स्थिति के अनुरूप वस्त्र धारण करे
१५. अनुदिन धर्म का श्रवण करे, उस पर विचार करे
१६. अजीर्ण हो जाने पर भोजन का त्याग करे
१७. नियत समय पर भोजन करे, सन्तोष रखे
१८. परस्पर अविरोद्ध धर्म पूर्वक त्रि-पुरुषार्थ की कामना करे
१९. अतिथि, साधु एवं याचक का यथायोग्य सत्कार करे
२०. किसी प्रकार का कदाग्रह न रखे
२१. गुणों का पक्षपात करे तथा प्रशंसा करे
२२. देश-काल के प्रतिकूल आचरण न करे
२३. अपनी शक्ति एवं योग्यता का विचार करके कार्य करे
२४. वृद्ध जनों का सदा विनय करे
२५. अपनी सन्तान का पालन-पोषण-शिक्षण करे
२६. दीर्घदर्शी हो, भविष्य का विचार करे
२७. स्व-पर-हित का सदा विचार करे
२८. लोकप्रिय हो, प्रेम से सबकी सेवा करे
२९. कृतज्ञ हो, दूसरों के उपकार को न भूले
३०. लज्जा-शील हो, बुरा काम करने में लज्जा करे
३१. दयाशील हो, दीन-हीनों पर करुणा करे
३२. सौम्य हो, सदा शान्त एवं प्रसन्न हो
३३. परोपकारी हो, दूसरों का उपकार करे
३४. षड् अरि-वर्ग पर विजय करे—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य
३५. इन्द्रिय निग्रह करे

वीतराग-धर्म के मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति में इन गुणों का, इन नियमों का और इन बोलों का होना, अनिवार्य माना गया है। क्योंकि यह व्यवहार के सिद्धान्त हैं। व्यवहार तथा नीति के अभाव में, धर्म और अध्यात्म की साधना सम्भव नहीं होती। ब्रत रूप धर्म और प्रतिमा रूप अध्यात्म की साधना के लिए व्यवहार और नीति पथ पर चलना आवश्यक है। लोक में सर्वप्रथम व्यवहार और नीति को ही देखा जाता है। धर्म और अध्यात्म तो बहुत दूर एवं उच्चतर वस्तु हैं, अन्दर की, आत्मा की वस्तु हैं, बाहर की नहीं।

## श्रावक के एकविंशति गुण

अपने गुणों का विकास ही अपने जीवन का विकास माना गया है। गुणों की संख्या का पार नहीं होता। जैनधर्म के अनुसार तो प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण होते हैं। अपरिमित गुणों का विकास कैसे करें? उनका जानना और समझना भी कठिन होता है। फिर विकास तो और भी कठिन है। इस समस्या का एक ही समाधान है, कि मुख्य गुणों का विकास हो जाने पर, गौण गुणों का विकास स्वतः हो जाता है। अतएव आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रवचनसारोद्धार में श्रावकों के एकविंशति मुख्य गुणों का प्रतिपादन किया है। पण्डित आशाधर ने अपने ग्रन्थ सागार-धर्माभूत में सप्तदश मुख्य गुणों का कथन किया है। कहा गया है, कि इन गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही अणुव्रतों की, गुणव्रतों की और शिक्षाव्रतों की साधना में सफल हो सकता है। श्रावक के एकविंशति गुण इस प्रकार हैं, जैसे कि—

१. अक्षुद्रता—विशाल दृष्टिकोण
२. स्वस्थता
३. सौम्यता
४. लोकप्रियता
५. अक्रूरता
६. अशठता
७. दानशीलता
८. लज्जा-शीलता
९. दया-शीलता
१०. पापभीरुता
११. गुणानुराग
१२. प्रिय एवं मधुर सम्भाषण
१३. मध्यस्थ वृत्ति
१४. दीर्घ दृष्टि
१५. सत्यभाषिता
१६. विनम्रता विनय
१७. विशेषज्ञता
१८. वृद्धानुगामिता
१९. कृतज्ञता
२०. परहितकारिता परोपकारिता
२१. लब्ध लक्ष्यता अपने साध्य का परिज्ञाता

दिगम्बर परम्परा में, पण्डित आशाधर ने इक्कीस गुणों के स्थान पर सतरह गुणों का कथन किया है। वे सतरह गुण इस प्रकार से कहे गए हैं—

१. न्याय-नीति से धन का उपार्जन करना
२. गुणी के गुणों का आदर करना
३. सत्य-भाषी तथा मितभाषी होना, हितभाषी
४. त्रि-वर्ग का परस्पर विरोध रहित सेवन-धर्म, अर्थ, काम
५. प्रिय-मधुर भाषिणी भार्या होना
६. रहने का योग्य स्थान—न अधिक खुला और न अधिक ढका
७. सज्जन पुरुषों की वसति, आवास स्थान
८. लज्जा-शीलता
९. योग्य एवं समयानुकूल भोजन
१०. सदाचार-शीलता
११. ज्ञानी पुरुषों की संगति
१२. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होना
१३. कृतज्ञता, उपकार को न भूलना
१४. इन्द्रिय निग्रह
१५. धर्म का श्रवण करना
१६. दयाशीलता
१७. पापभीरुता पापकृत्य से डरने वाला होना

मार्गानुसारी के पैंतीस बोल, श्रावक के इक्कीस गुण एवं सतरह गुणों में संख्या का भेद है, कुछ संज्ञा का भेद है तथा कुछ स्वरूप में भेद अवश्य है। किन्तु अभिप्राय में भेद नहीं है। फलितार्थ सबका एक ही है। ब्रतों की साधना से पूर्व कथित गुणों का होना, दोनों ही परम्पराओं को अभीष्ट है। धर्म और अध्यात्म से पूर्व व्यवहार-शुद्धि का होना, और नीति-शुद्धि का होना बहुत आवश्यक माना गया है। मन की मलिनता, वाणी की कर्कशता-कठोरता और शरीर की शिथिलता का दूर होना नितान्त आवश्यक है। यही है, गुणों के अभ्यास का फल।



## ८. जीवन का नियामक शास्त्र : आचार

भारतीय दर्शन में आचार-शास्त्र दर्शन-शास्त्र का ही एक अंग है। प्रमाण-शास्त्र, तत्त्व-शास्त्र और आचार-शास्त्र-भारतीय-दर्शन में ये तीनों साथ-साथ ही चलते हैं। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखा ने अपना प्रमाण-शास्त्र, अपना तत्त्व-शास्त्र और अपना आचार-शास्त्र बनाया है। चार्वाक जैसे नास्तिक-दर्शन में भी ये तीनों अंग परिपूर्ण रूप में हैं। फिर आस्तिक दर्शनों ने तो इन तीनों पर विशेष बल दिया ही है। आचार्य शंकर जैसे एकान्त ज्ञानवादी एवं अद्वैतवादी दर्शन में भी आचार को स्थान मिला है। अतः भारतीय दर्शनों में प्रत्येक दर्शन में ज्ञान, तत्त्व और आचार पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। पाश्चात्य-दर्शन में ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा और आचार-मीमांसा का समन्वित रूप तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इन तीनों अंगों पर भिन्न रूप से पर्याप्त लिखा गया है। अनुभववादियों ने ज्ञान पर ही विशेष बल दिया, जबकि तत्त्ववादियों ने तत्त्व की व्याख्या पर ही अपना बल लगाया। आचार-शास्त्र के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। भारतीय दर्शनों में जिसे आचार-शास्त्र कहा जाता है, पाश्चात्य-दर्शन में उसे नीति-शास्त्र कहा गया है। नीति-शास्त्र के सम्बन्ध में यूनानी दार्शनिकों ने, यूरोपीय दार्शनिकों ने और अमरीकी दार्शनिकों ने अपने दर्शन-ग्रन्थों के साथ नहीं, स्वतन्त्र रूप से ही इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं।

### समाज और आचार

आचार शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है; जैसे-नीति, धर्म, कर्तव्य और नैतिकता। 'धर्म' एक व्यापक शब्द है और आचार शब्द भी उतना ही अधिक व्यापक है। मानव के कर्तव्य के रूप में जिन बातों का अथवा जिन नियमों का होना आवश्यक है, वे सब नियम आचार और धर्म में समाहित हो जाते हैं। जिस युग में मानव जंगलों में रहता था, कुटुम्ब, परिवार और समाज की रचना नहीं हुई थी, उस समय धर्म और आचार के नियमों की भी आवश्यकता नहीं थी। जैसे-जैसे मानव ने विकास किया, वैसे-वैसे उसे सभ्य और सुसंस्कृत बनने के लिए नियमों की आवश्यकता पड़ी। अकेला व्यक्ति जिस पद्धति से रहता है, परिवार, समाज और राष्ट्र में रहने की पद्धति उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। जब मानव कुटुम्ब, परिवार और समाज रूप में बदला, तभी से जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता हुई। जब कर्तव्य के साथ अधिकार की भावना ने बल पकड़ा, तब अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए और दूसरों के अधिकारों में बाधा न डालने के लिए मर्यादा की आवश्यकता पड़ी। यह मर्यादा और यह सीमा ही आगे चलकर नियम रूप में बदली, फिर आचार रूप में और अन्त में धर्म रूप

में बदली। समाज के निर्माण के साथ ही आचार और धर्म का भी आविर्भाव सहज ही हो जाता है। जिस समाज के आचार और धर्म के नियम जितने अधिक व्यापक और उदार होते हैं, वह समाज उतना ही अधिक समुन्नत समझा जाता है। आचार और धर्म के बाद ही दर्शन और तत्त्व का विकास होता है। समाज को स्थिर, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिए निश्चय ही आचार और धर्म की जीवन विकास के लिए नितान्त आवश्यकता है। इस विश्व में एक भी समाज इस प्रकार का नहीं होगा, जिसमें आचार और धर्म के नियमों का विधान नहीं होगा।

### भारतीय आचार

जैन परम्परा के विश्वास के अनुसार उसके धर्म और आचार के नियमों का निर्माण प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने किया। उसी परम्परा का कुछ परिवर्तनों के साथ अथवा अपने युग की भावना के अनुसार भगवान नेमिनाथ ने और महाश्रमण भगवान महावीर ने अपने-अपने तीर्थ में आचार और धर्म के नियमों का विधान किया था। तथागत बुद्ध ने बौद्ध परम्परा के अनुसार नियमों की रचना की। वैदिक परम्परा में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी उस युग की जनता के लिए नैतिक नियमों का विधान किया। भारतीय आचार और धर्म को सुदृढ़ बनाने वाले मूल रूप में ये ही महापुरुष हैं। फिर श्रुति, स्मृति और कल्प आदि ग्रन्थों में तथा पिटक और आगम आदि वाङ्मय में उन्हीं का पल्लवन, विस्तार, संकोच और विकास होता रहा है। नियमहीन अथवा आचारहीन मानव को भारतीय साहित्य में पशु के समान माना गया है। अतः जीवन विकास के लिए आचार आवश्यक है।

### पाश्चात्य आचार

पाश्चात्य आचार और धर्म की नींव डालने वाले में ईसा, मूसा और मोहम्मद मुख्य हैं। बाइबिल और कुरान में दर्शन और तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया गया। बल्कि मानव-जीवन के विकास के लिए जिन नियमों की आवश्यकता थी, उन्हीं का प्रतिपादन किया गया है। ईसा ने चार बातों का उपदेश दिया था—प्रेम, सेवा, दान और उदारता। मोहम्मद ने भी कहा था—तुम सबसे प्रेम करो, आपस में प्रेम से रहो, रोजा और नमाज भी नियमित रूप से करो। पाश्चात्य विचारकों पर बाइबिल और कुरान के विचारों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है।

### यूनानी आचार

यूनान के दार्शनिकों में प्रसिद्ध विचारक सुकरात था। उसका शिष्य प्लेटो था और प्लेटो का शिष्य अरस्तू था। तीनों ने ही नीति और आचार पर विशेष बल दिया था। सुकरात के विचार में नीति अथवा धर्म का स्थान सर्वोच्च था। भद्र क्या है और अभद्र क्या है ? इसकी नींव सुकरात ने बुद्धि पर रखी। सुकरात ने कहा कि जो भद्र है, वह सभी के लिए भद्र है और जो अभद्र है वह सभी के लिए अभद्र है। सुकरात ने सबसे बड़ी बात यह

कही थी कि सदाचार ही ज्ञान है। इस प्रकार सदाचार को ज्ञान कहकर सुकरात ने धर्म का गौरव बढ़ाया था। सुकरात का कहना था कि जिस व्यक्ति को सदाचार का ज्ञान न हो, वह सदाचार का पालन नहीं कर सकता। न्याय वही कर सकता है जिसे न्याय का ज्ञान हो। सुकरात ने यह भी कहा था कि नियम मनुष्य के लिए बनते हैं, मनुष्य नियम के लिए नहीं। सुकरात ने सत्य, न्याय और संयम के लिए खूब कहा था, और प्रचार भी खूब किया था।

प्लेटो ने नीति के साथ राजनीति को भी जोड़ दिया और कहा कि समाज को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के लिए जिस प्रकार नैतिकता की आवश्यकता है, उसी प्रकार राजनीति की भी आवश्यकता है। प्लेटो के विचारों के अनुसार नीति और राजनीति दोनों का प्रयोजन मानव-कल्याण है। नीति बताती है कि व्यक्ति भद्र की उत्पत्ति में अपने प्रयत्न से क्या कर सकता है ? राजनीति बताती है कि मनुष्यों का सामूहिक प्रयत्न क्या कर सकता है ? न्याय की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा था—न्याय दूसरों के साथ उचित और निष्कपट व्यवहार का नाम है। जो कुछ अपना है, उसे प्राप्त करना, यही न्याय है। सामाजिक जीवन का सार प्लेटो के विचार में व्यवस्था का स्थापन है। समाज नियम स्थापित करता है और माँग करता है कि नागरिक उन नियमों पर चलें। प्लेटो कहा करता था कि अच्छा व्यक्ति अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। इस प्रकार प्लेटो ने सदाचार, नीति और आचार के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा था।

प्लेटो के समान अरस्तू का भी यही विचार था कि समाज और राष्ट्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के लिए नीति और राजनीति दोनों की आवश्यकता है। अरस्तू का कहना है कि शक्ति और सदाचार में मित्रता नहीं हो सकती। व्यवहार की दृष्टि से अरस्तू किसी एक के स्थान में कुछ भले पुरुषों के हाथों में शक्ति देने के पक्ष में था। उसका यह भी विश्वास था कि राष्ट्र में किसी वर्ग का बहुत धनवान होना अथवा बहुत दरिद्र होना राज्य के लिए हानिकारक होता है। मध्यम वर्ग राष्ट्र में रीढ़ की हड्डी के समान होता है।

अरस्तू कहता था—प्रेम स्त्री और पुरुष को दो से एक बनाता है, प्रेम परिवार को जन्म देता है, सन्तान इसे स्थायी बनाती है। अरस्तू ने अपने नीतिशास्त्र में कहा है कि धन का व्यय करने में कंजूस एक सीमा पर जाता है और अपव्ययी दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है। उदार-पुरुष मध्यम मार्ग चुनता है। दूसरों को धन की सहायता देना सुगम है, परन्तु उचित मनुष्य को, उचित समय पर, उचित मात्रा में और उचित ढंग से सहायता देना बहुत कठिन है। अरस्तू ज्ञान के साथ क्रिया को भी महत्त्व देता है। उसके विचार में अभ्यास का फल सदाचार है। जैसे गाते-गाते ही मनुष्य गायक बन जाता है, वैसे ही अच्छा आचार भले कर्मों के लगातार करते रहने से ही बनता है।

हम देखते हैं, कि यूनानी दार्शनिकों के विचार, जो धर्म और नीति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखे हैं, उनमें उन सभी बातों का समावेश हो जाता है जो जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए आवश्यक हैं। धर्म के सभी अंग इन विचारों में आ जाते हैं।



## स्पिनोजा की नीति

यूरोपीय दार्शनिकों में स्पिनोजा ने नीति और राजनीति दोनों के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट रूप से रखे हैं। स्पिनोजा का सिद्धान्त यह था कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियम-बद्ध हो रहा है, इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता था। स्पिनोजा यह भी कहता है, कि आत्मरक्षा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं। स्पिनोजा ने कहा था, जो पुरुष समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सर्व प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता। स्पिनोजा का यह कथन धर्म और सदाचार का ऊँचे से ऊँचा रूप मानव-समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजनीति के सम्बन्ध में स्पिनोजा का विचार था, कि वह मानव उद्वेगों का खेल है। वह कहता है कि शासक का मुख्य काम शासन करना है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको संरक्षित रखने के लिए शक्ति-सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्यों के लिए सबसे बड़ी हानि समाज और राष्ट्र में अव्यवस्था है। जो शासन रक्षा और स्वाधीनता दे सकता है, उसकी शक्ति कायम रखने के लिए व्यक्ति को हर प्रकार के बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

## अमरीकी दार्शनिक

अमरीकी दार्शनिकों ने भी नीति, सदाचार और धर्म के रूप में बहुत कुछ लिखा है। हम पूछते हैं—नैतिक आदर्श क्या है ? अमरीकी दार्शनिक इयूड पूछता है—किस विषय में और किस स्थिति के विषय में प्रश्न करते हो ? समस्त मनुष्य एक स्थिति में नहीं और कोई एक मनुष्य भी एक ही स्थिति में नहीं रहता। प्रत्येक का कर्तव्य वर्तमान बाधा को दूर करके आगे बढ़ना है। यदि मेरे लिए इस समय शारीरिक दुर्बलता बाधा है, तो मेरा कर्तव्य स्वस्थ और बलवान होना है। यदि मेरे पड़ोसी के लिए पारिवारिक कलह विशेष बाधा है, तो उसका कर्तव्य उस कलह को दूर करना है। यह बात विशेष महत्त्व की नहीं है कि हम कहाँ खड़े हैं ? महत्त्व की बात यह है कि जहाँ कहीं हम हैं, वहाँ से आगे बढ़ने का प्रयत्न करें। अच्छा व्यक्ति वह है, जो और अधिक अच्छा बनने के प्रयत्न में लगा रहता है।

इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में आचार, धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। सदाचारमय जीवन बनाना ही धर्म का मुख्य काम है।

## मनोविज्ञान और आचार

सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा समाज के आचरण और व्यवहार पर निर्भर रहती है। सामाजिक आचरण की व्याख्या दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है—पहला बुद्धिवाद और दूसरा मूलप्रवृत्तिवाद। बुद्धिवाद के अनुसार मनुष्य का आचरण बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित होता है। किसी कार्य को करने से पूर्व मनुष्य साध्य एवं साधन आदि पर पर्याप्त विचार कर लेता है। फिर विवेकपूर्वक उस कार्य में लग जाता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक आचरण में इस प्रकार की स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है। व्यक्ति के अनुभव और विचार व्यक्ति तक ही सीमित रहते हैं। व्यापक

समुदाय के आचरण का नियमन मनुष्य की स्वाभाविक मूलप्रवृत्तियों के द्वारा होता है। डॉ० मैक्डूगल का कहना है कि सामाजिक आचार का आधार प्रेम अथवा कोमलता का संवेग है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जब तक व्यक्ति में कोमलता का संवेग और प्रेम न हो तब तक उसका आचरण सुन्दर नहीं बन सकता। जिन्सवर्ग की आलोचना का सार यह है कि सामाजिक आचरण के लिए मनुष्य को कुछ उदार और श्रद्धाशील भी बनना पड़ता है। सामाजिक आचार की व्याख्या कुछ विद्वानों ने कतिपय इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर की है जिनको यथार्थ में प्रवृत्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती किन्तु वे प्रवृत्ति के समान प्रतीत होती हैं। इसका अर्थ यह है कि आचरण की यह व्याख्या बाह्य संकेत के अनुकरण के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है। आचार अथवा धर्म सामाजिक व्यवस्था के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि राजनीति।

### बेजहॉट (Bagehot) का मत

बेजहॉट के अनुसार आदिम मानव समाज के आचार एवं व्यवहार, रीति और नीति तथा धर्म और संस्कृति को प्रेरणा देने वाला तत्त्व अनुकरण है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे का अनुकरण करता है। घर में बालक अपने गुरुजनों का अनुकरण करते हैं। शिष्य गुरु का अनुकरण करता है। अनुयायी अपने नेता का अनुकरण करते हैं।

कुछ मनोविज्ञानपण्डितों ने सामाजिक मनुष्य की समस्त क्रिया का मूल आधार अनुकरण के इस सामाजिक तथ्य को माना है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री बेजहॉट ने सन् १८७८ में अपने ग्रन्थ *Physics & Politics* में इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत किया था और फ्रांसीसी समाजशास्त्री टार्ड ने १८८५ में इसको अधिक विकसित रूप प्रदान किया।

अनुकरण मानव-मन में रहने वाली एक वृत्ति है और इसी के अनुसार आचार बनता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह अपने इसी अनुकरण गुण का विकास है। बेजहॉट के मत के अनुसार इस प्रकार का अनुकरण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज भी व्याप्त है। वेश एवं भूषा में, रहन-सहन में और यहाँ तक कि धर्म और राजनीति में भी अनुकरण का प्रभाव है। जनता किसी विशिष्ट व्यक्ति का किसी वस्तु में आकर्षण अनुभव करती है और यथाशक्ति उसके अनुकरण का प्रयत्न करती है। बेजहॉट का मत है कि अनुकरण की क्रिया अज्ञात रूप में होती है। इसके लिए व्यक्ति को न इच्छा करनी पड़ती है और न चेष्टा। कुछ भी हो और किसी भी प्रकार हो परन्तु यह सत्य है कि जीवन-यात्रा में अनुकरण का बड़ा महत्त्व है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार यह अनुकरण वृत्ति ही हमारे आचार की आधारशिला बनती है।

टार्ड का अनुकरण का सिद्धान्त सत्य के सम्पूर्ण दर्शन का एक अंग है। समस्त सामाजिक समस्याओं के लिए इसका उपयोग करके उन्होंने अद्भुत कल्पना-शक्ति का

परिचय दिया था। उनके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया समूह में स्थित व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। सबसे बड़ी बात बाह्य संकेत या निर्देश की भी है। मनोवैज्ञानिकों ने बाह्य संकेतों की भी प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बाह्य संकेतों का सामाजिक आचरण में स्थान है। जन-जीवन में शब्दों के रूप में बाह्य संकेतों का क्या प्रभाव पड़ता है, यह विभिन्न राजनैतिक दलों के नारों से प्रमाणित हो जाता है। जैसे—धन और धरती बँट के रहेंगे, कमाने वाला खाएगा और लूटने वाला जायेगा—ये समाजवादी नारे हैं। कम्युनिस्टों का नारा इस प्रकार का होता है—‘दुनियाँ के मजदूरो एक हो जाओ, तुम्हें कुछ खोना नहीं है, अपने बन्धनों से ही मुक्त होना है।’ इस प्रकार के नारे अथवा शब्दावली मनुष्य के मन पर निश्चित रूप से प्रभाव डालती है। अतः बाह्य संकेत और निर्देशन का हमारे आचार में एक विशेष महत्त्व है।

### सामाजिक नियन्त्रण में धर्म का स्थान

युग के प्रारम्भ से ही धर्म ने मानव के वैयक्तिक एवं सामाजिक आचार का किसी न किसी रूप में नियन्त्रण किया है। जिन सिद्धान्तों का पालन अधिकांश लोग अपने दैनिक जीवन में करते हैं, उनका विधान उसके द्वारा होता है, जिसे धर्म कहते हैं। प्रत्येक धर्म कुछ इस प्रकार के विश्वासों को उपस्थित करता है, जो हमारी भावना एवं आस्था के नियम बन जाते हैं। ये विश्वास हमारी आस्था का नियमन करते हैं और विविध व्यवहारों को जन्म देते हैं। इन्हीं विश्वासों के आधार पर रीति एवं नीति तथा आचारों का विकास होता है, जिन्हें धर्म का समर्थन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से धर्म का प्रयोजन न केवल मनुष्य को ईश्वर से बाँधना रह जाता है, बल्कि व्यक्ति और समाज का धारण भी हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था संस्था, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए सिद्धान्तों का विधान प्रायः प्रत्येक धर्म—हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम के महत्वपूर्ण अंग हैं। जहाँ तक धर्म और आचार का सम्बन्ध है, प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इसका एक महत्त्व है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर आचार और धर्म एक वस्तु है और सम्प्रदाय एक भिन्न वस्तु है। सम्प्रदाय और धर्म को एक मानने के भयंकर परिणामों से प्रत्येक व्यक्ति भलीभाँति परिचित है, किन्तु धर्म की सत्ता या महत्ता को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य बनाने की क्षमता सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यादि धर्म में ही है। परन्तु इस समय धर्म का वह उज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। आज तो मनुष्य अपने धर्म की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय को अधिक महत्त्व देता है। यही कारण है कि धर्म के नाम पर अनेक संघर्ष आज खड़े होते जा रहे हैं।

### जीवन और आचार

मनुष्य के विकास के लिए धर्म एक संजीवनी है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु धर्म की परिभाषा एवं व्याख्या करना उतना सरल व सहज नहीं है, फिर भी कुछ नियम इस प्रकार के हैं जिनको धर्म की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। जैन परम्परा में

पंच महाव्रत, पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत आदि आचार के वे पवित्र विधान हैं, जिनके पालन से मनुष्य का जीवन पावन व पवित्र बन सकता है। वैदिक परम्परा में पतंजलि के योग सूत्रों में पाँच यमों का वर्णन आता है। बौद्धों के यहाँ पर पंचशील का वर्णन आता है। इस प्रकार भारतीय परम्परा में महाव्रत, यम और शील धर्म के प्रतीक माने जाते हैं और इनमें उन समस्त नियमों का समावेश हो जाता है, जो मानव-जीवन के विकास एवं उत्थान के लिए आवश्यक हैं।

यद्यपि आज पाश्चात्य जगत में राजनीति, अर्थनीति और विज्ञान से धर्म अभिभूत हो चुका है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व वहाँ विलुप्त हो चुका है अथवा अत्यन्त क्षीण अवस्था में चल रहा है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि ईसा, मूसा और मोहम्मद ने जो कुछ कहा था, वह मानव-जीवन के विकास के लिए उपयोगी था। धर्म, दर्शन और तत्त्व-इन तीनों की भी मानव-जीवन के विकास के लिए नितान्त आवश्यकता है और भविष्य में भी रहेगी। जो कुछ व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर हो सकता है, वही समाज के लिए भी श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के आचार एवं व्यवहार का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

## पाश्चात्य आचारशास्त्र

### आचारशास्त्र और अन्य विज्ञान

संसार के सभी पदार्थ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः भिन्न विज्ञान भी, जिनमें उन विषयों का अध्ययन होता है, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, पर कुछ विज्ञान ऐसे हैं, जिनमें बहुत ही घनिष्ठता रहती है और कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनमें वैसी घनिष्ठता नहीं रहती। यों तो आचारशास्त्र अर्थशास्त्र आदि से सम्बन्धित है, पर इसकी घनिष्ठता मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र से अधिक है।

### आचारशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)

आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचार की उचितता और अनुचितता से है। यह मानव-आचरण के आदर्श की मीमांसा करता है। कौन-से आचरण को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है, यही समस्या है आचारशास्त्र की। आचरण का स्वरूप जान लेने पर ही उसके आदर्श की मीमांसा हम कर सकते हैं। मानव आचरण की क्या विशेषताएँ हैं, यह जानकर ही उसका आदर्श निर्धारित किया जा सकता है। मानव आचरण का विश्लेषण, उसका स्वरूप और स्रोत आदि का अध्ययन मनोविज्ञान में होता है। अतः आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार जानना आवश्यक है। मानव-आचरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किये बिना उसके आदर्शों की मीमांसा हम नहीं कर सकते। सिजविक ने कहा है कि 'प्रायः सभी नैतिक विचारों में मनोवैज्ञानिक तथ्य वर्तमान हैं।' किसी भी नैतिक मत का पालन क्यों न किया

जाये अर्थात् मानव-आचरण का कोई भी आदर्श क्यों न माना जाये। मानव जीवन के लक्ष्य के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना मनुष्य के मानसिक स्वरूप को जानना सम्भव नहीं है। पर आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में ऐसी घनिष्ठता रहने पर भी दोनों के क्षेत्र और दृष्टिकोण में अन्तर है।

मानसिक क्रियाओं के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। मनोविज्ञान सभी का अध्ययन करता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध केवल ऐच्छिक क्रियाओं से ही है। अतः इस दृष्टि से मनोविज्ञान का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।

मनोविज्ञान में ऐच्छिक क्रियाओं का विश्लेषण तथा उनके स्वरूप का अध्ययन होता है। आचार शास्त्र का लक्ष्य है—आचरण के आदर्श का ज्ञान। अतः जहाँ मनोविज्ञान एक यथार्थ विज्ञान है, वहाँ आचारशास्त्र एक आदर्श निर्देशक विज्ञान है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध 'है' से है और आचारशास्त्र का 'चाहिए' से।

मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ और आचारशास्त्र का आत्मनिष्ठ माना जाता है। मनोविज्ञान मानसिक तथ्यों का वस्तुओं की भाँति अध्ययन करता है। आचारशास्त्र व्यक्तियों की आन्तरिक मानसिक अवस्थाओं और व्यक्तिगत अनुभूतियों से सम्बन्धित रहता है।

आचारशास्त्र में मनोवैज्ञानिक पद्धति से काम लिया जाता है। परन्तु उसकी पूर्ति दार्शनिक पद्धति से होती है। इसमें मनुष्य 'क्या करता है' यह जानकर उसे 'क्या करना चाहिए' की समीक्षा होती है।

### आचारशास्त्र और समाजशास्त्र (Sociology)

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें समाज के स्वरूप, नियम तथा विकास का अध्ययन होता है। विभिन्न सामाजिक वर्गों का निर्माण, भिन्न संस्थाएँ, रीति-रिवाज आदि का प्रारम्भ तथा विकास कैसे हुआ यही जानना समाजशास्त्र का लक्ष्य है। आदि काल से वर्तमान रूप में मनुष्य-समाज का कैसे विकास या परिवर्तन हुआ, समाजशास्त्र में इसी का अध्ययन किया जाता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचरण से है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति समाज का अंग है। मार्टिन्स ने कहा है कि 'समाजहीन मनुष्य नाम का ही मनुष्य है। अतः मानव-आचरण का अध्ययन बिना उसके सामाजिक जीवन का अध्ययन सम्भव नहीं है।' व्यक्ति का सुख समाज के सुख से ही सम्बन्धित है। वास्तव में बिना समाज के मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसे मनुष्य का सद्गुण या दुर्गुण कहा जाता है, वह तो मनुष्य का दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होता है, इसी पर निर्भर है। अतः आचारशास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मानव-आचरण का क्या आदर्श होना चाहिए यह व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को जानकर ही विचारा जा सकता है। समाज और व्यक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

है। अतः व्यक्ति के सुख का अर्थ है—सामाजिक सुख और सामाजिक सुख का अर्थ है—व्यक्ति का सुख। व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं। मानव का चरम लक्ष्य या चरम शुभ सामाजिक शुभ है।

आचारशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र पर आश्रित है। सामाजिक संस्थाओं का इतिहास, रीति-रिवाजों का विकास तथा नैतिक नियमों के विकास का इतिहास समाजशास्त्र में मिलता है। इन्हीं के आधार पर हम मानव-आचरण के आदर्श का विचार करते हैं। यथार्थ का ज्ञान समाजशास्त्र से होता है और आदर्श का आचारशास्त्र से। इसलिए समाजशास्त्र आचारशास्त्र का आधार है। पर वास्तव में समाजशास्त्र स्वयं आचारशास्त्र पर आश्रित है। समाज के नियमों और उसके इतिहास को जानकर ही उसकी प्रगति या पतन का ज्ञान नहीं होता। समाज के उत्थान या पतन का मूल्यांकन किसी मापदण्ड से ही सम्भव है। यह मापदण्ड आचारशास्त्र से ही मिलता है। अतः समाजशास्त्र में सामाजिक विकास या परिवर्तनों का मूल्यांकन आचारशास्त्रों के मापदण्डों के द्वारा होता है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र की घनिष्ठता के कारण कुछ विचारकों (स्पेंसर, स्टीफन आदि) ने आचारशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है। समाजशास्त्र में नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन होता है, इसीलिए वे ऐसा विचारते हैं। पर आचारशास्त्र में मुख्यतः नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन नहीं होता, बल्कि उसके स्वरूप की मीमांसा होती है। इसके अतिरिक्त दोनों विज्ञानों में अन्तर भी है।

आचारशास्त्र मानव जीवन के आदर्श से सम्बन्धित है। पर समाजशास्त्र मानव समाज के इतिहास तथा विकास से।

आचारशास्त्र आदर्श निर्देशक विज्ञान है, पर समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। किसी समाज या सामाजिक संस्था का विकास कैसे हुआ, इसके क्या नियम हैं, ये प्रश्न समाजशास्त्र के हैं। व्यक्ति या समाज का क्या आदर्श होना चाहिए, ये प्रश्न आचारशास्त्र के हैं। अतः समाजशास्त्र वर्णनात्मक है, आचारशास्त्र आदर्श-निर्देशक।

आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक व्यवहारों से है। यह आचरण कैसा होना चाहिए, इसका ज्ञान देता है। समाजशास्त्र सैद्धान्तिक है। इसमें समाज का सैद्धान्तिक अध्ययन होता है।

समाजशास्त्र में मनुष्य के सामूहिक रूप का अध्ययन होता है। आचारशास्त्र में सामूहिक तथा व्यक्तिगत दोनों रूपों का।

समाजशास्त्र में मानसिक तथ्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। जैसे—रीति-रिवाजों का, संस्थाओं का। आचारशास्त्र में आत्मनिष्ठ मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन होता है जैसे—इच्छा, प्रयोजन आदि का।

## आचारशास्त्र और राजनीतिविज्ञान (Politics)

राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें राज्य और शासन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। किस प्रकार का शासन हो कि सम्पूर्ण मानव-जाति सुख और शान्ति से रहे, यही इसकी समस्या है। कैसा विधान या नियम हो जिससे मानव वर्ग में शान्ति रहे और उसका उत्थान हो, यही प्रश्न है राजनीतिशास्त्र का, इसलिए यह आदर्श-निर्देशक है।

आचारशास्त्र का सम्बन्ध भी आचरण के आदर्श से है। इसलिए दोनों विज्ञान आदर्श-निर्देशक हैं। दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से है। इसलिए दोनों व्यावहारिक हैं।

राजनीतिशास्त्र का आधार आचारशास्त्र ही है। किसी भी विधान को न्यायसंगत होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। राज्य के विधान नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल यदि नहीं रहते, तो उनका फल खराब होता है। कोई राज्य अनैतिक नहीं हो सकता। नीति और राज्य के विधान में, आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों शास्त्रों में ऐसी घनिष्ठता के कारण कुछ दार्शनिकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र का अंग माना है (प्लेटो और अरस्तू)। उन्होंने नैतिक नियमों से ही राज्य शासन के विधान का प्रतिपादन किया है।

पर कुछ विचारकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र से बिल्कुल भिन्न माना है (माइकावेली)। उनके अनुसार राज्य नैतिक नियमों से बंधा नहीं है। शासन के विधान अवसर के अनुसार बनते हैं। यदि किसी राज्य का लक्ष्य उच्च है, तो उसे किसी भी साधन द्वारा प्राप्त करना उचित होता है। झूठ, धोखा इत्यादि जो नैतिक दृष्टि से असंगत हैं, अवसर के अनुसार राजनीतिक दृष्टि से संगत भी हो सकते हैं।

कुछ विचारकों ने आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का अंग माना है। वे राज्य के नियम को ही नैतिक नियम बतलाते हैं। इनमें हॉब्स और बेन प्रमुख हैं।

उपर्युक्त विचार एकांगी हैं। किसी शासन क्रम से यदि नैतिकता को हटा दें तो उसका प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ता। जो राज्य नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ रहता है, उसकी सत्ता अधिक दिनों तक नहीं टिकी रहती, एक न एक दिन उसका लोप हो ही जाता है। नैतिक शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है। इसलिए राजनीति का आधार आचारशास्त्र ही है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि दोनों एक हैं। उनमें भेद भी है।

राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर क्रिया-कलापों के बाह्य रूप से है। मनुष्य के कर्म ऐसे हों कि उनका फल सुखकर हो। आचारशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य की इच्छा, अभिलाषा, आकांक्षा तथा लक्ष्य से है। मनुष्य की अभिलाषा तथा आकांक्षा उच्च होनी चाहिए। राजनीतिक विधान के अनुसार किसी को कष्ट देना एक अपराध है पर आचारशास्त्र के अनुसार किसी को कष्ट देने का विचार भी अपराध है। यद्यपि

राजनीतिशास्त्र मनुष्य के आन्तरिक पहलू से भी सम्बन्धित है, पर बाह्य रूप ही प्रधान विचारे जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य है—अधिकांश मनुष्यों को सुख देना। इसका सम्बन्ध समुदाय से है और आचारशास्त्र का व्यक्ति से। व्यक्ति का सुख ही इसका लक्ष्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति और समुदाय विरोधक हैं, वास्तव में दोनों पूरक हैं। हर राजनीतिशास्त्र में सामुदायिक पहलू का और आचारशास्त्र में वैयक्तिक पहलू का अधिक विचार किया जाता है। राजनीति समुदाय के सम्मिलित व्यवहार को देखती है, आचारशास्त्र मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाओं को।

दोनों के दृष्टिकोणों में भी भेद हैं। किसी समुदाय के लिए कौन-सा कार्य लाभदायक होगा यह बताना राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। आचारशास्त्र में बाह्य लाभ का प्रश्न नहीं उठता। यह आवश्यक नहीं है कि जो कार्य लाभदायक हो वह नैतिक दृष्टि से भी उचित हो।

राज्य के नियम दण्ड और पुरस्कार के डर तथा प्रलोभन द्वारा लागू होते हैं। आचारशास्त्र के नियम का पालन बाह्य डर तथा प्रलोभनों से नहीं होता है। यदि केवल दण्ड के डर से ही कोई सदा सत्य बोले तो नैतिक दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है।

आचारशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है। राजनीतिक नियमों की भी नैतिक परीक्षा होती है।

### आचारशास्त्र और धर्मशास्त्र (Theology)

धर्मशास्त्र धर्म के सिद्धान्तों की मीमांसा है। धर्म का अर्थ है—मानव शक्ति से उच्चतर किसी शक्ति में विश्वास। यह शक्ति इन्द्रियगोचर नहीं, पर मानव संवेग से उदासीन भी नहीं है। धर्म का सबसे विकसित रूप एक सर्वशक्तिशाली, अन्तर्यामी, सर्वज्ञानी व्यक्ति-रूप ईश्वर का विचार करना है। धर्मशास्त्र ईश्वर-प्राप्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य विचारता है। अतः यह उस लक्ष्य की प्राप्ति के विषय में बतलाता है, इसलिए दोनों शास्त्रों में बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क है। बहुत से दार्शनिकों ने आचारशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन माना है। उनके अनुसार धर्म ही नीति (morality) का मूल है। (Descartes, Locke, Duns Scotus)। धर्म के नियम ही नैतिक नियम हैं। हमारे जैसे ही आचार नैतिक कहे जा सकते हैं, जो धर्म के नियमों के अनुसार हों। ईश्वर की इच्छा पर ही उचित और अनुचित निर्भर है। जिसे वह आदिष्ट करता है, वही उचित और जिसका निषेध, वह अनुचित होता है। ईश्वर अपनी इच्छाओं का पालन दण्ड के भय और पुरस्कार के प्रलोभन से कराता है।

यह मत मान्य नहीं प्रतीत होता। धार्मिक विचार मनुष्य-जीवन के पिछले भाग में उदय होते हैं। पर बाल्यकाल ही से सत्य और असत्य का ज्ञान आरम्भ हो जाता है। यदि धार्मिक विचार ही नैतिक विचारों का साधन होता तो ऐसी बात नहीं होती।



यदि भय और प्रलोभन से ही कोई मनुष्य कोई कर्म करता है तो उसमें नैतिकता का प्रश्न नहीं उठता। हमारे आचरण केवल दण्ड के डर और पुरस्कार के प्रलोभनों से यदि संचालित हों, तो उन्हें अच्छा या खराब कैसे कहा जा सकता है ? उन कर्मों से तो हमारे वास्तविक स्वरूप का पता नहीं चलता।

धर्म या सत्य ईश्वर की आज्ञाओं पर निर्भर नहीं है, अपितु उनकी प्रकृति के द्योतक हैं। ईश्वर अपनी इच्छानुसार किसी कार्य को सत्य या असत्य नहीं बना सकता। कोई कर्म इसलिए सत्य या असत्य नहीं होता कि वैसी ईश्वर की इच्छा होती है, अपितु वह किसी कर्म का आदेश देता है, इसलिए कि वह सत्य है और निषेध करता है, इसलिए कि वह असत्य या अधर्म है।

यदि धर्मशास्त्र को आचारशास्त्र का सूत्र माना जाय तो बिना ईश्वर के विश्वास के नीति का भी लोप माना जाता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। बौद्ध मत और जैन मत इसके उदाहरण हैं।

इसके विपरीत कुछ दार्शनिकों का मत है कि धर्मशास्त्र का आधार आचार-शास्त्र है, क्योंकि धर्म का आधार है नीति (morality)। हममें यह विश्वास है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का बुरा। पर वास्तविक जगत में ऐसा नहीं पाया जाता। बुरे ही अधिकतर सुख भोगते हैं और सदाचारी कष्टों के शिकार बनते हैं। इसलिए इस भेद के कारण हममें यह विश्वास उत्पन्न होता है कि कोई शक्तिशाली ईश्वर का अस्तित्व है, जो इन विषमताओं को दूर करता है और सदाचारियों को पुरस्कार देता है और दुराचारियों को कष्ट। यही विश्वास धर्म की नींव है—कान्ट, मार्टिन्यु (Kant, Martineau) इत्यादि।

दूसरे, मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझता है। किसी सत्ता के प्रति ही कोई कर्तव्य होता है। यह सत्ता कौन है ? इसके फलस्वरूप ईश्वर में हमारा विश्वास होने लगता है।

तीसरे, आचारशास्त्र में चरित्र का आदर्श निर्धारित किया जाता है। यह आदर्श केवल सैद्धान्तिक नहीं माना जाता। इसलिए एक ऐसी शक्ति को हम मानते हैं, जो उन आदर्शों से सम्पूर्ण है।

इन्हीं कारणों से कहा गया है कि नैतिक विचारों से ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न होता है। किसी न किसी रूप में धर्म हर देश और काल में रहता है, चाहे वहाँ नैतिक विचार हों या नहीं हों। इसके अलावा, धार्मिक विचार मनुष्यों की अपूर्णता के भाव से उदय होते हैं। मनुष्य अपने को अपूर्ण पाकर एक ऐसी सत्ता में विश्वास करने लगता है, जो सर्वशक्तिमान है। नैतिक विचारों का उदय मानवआत्मा की पूर्णता की भावना से होता है। दोनों के दो सूत्र होते हैं। एक के बिना दूसरे का विचार किया जा सकता है। कोई बिना धार्मिक विचारों के भी नैतिक नियमों का पालन कर सकता है और बिना नैतिक विचारों

के धार्मिक नियमों पर चल सकता है। पर दोनों शास्त्रों का सम्बन्ध घनिष्ठ है। एक का प्रभाव दूसरे पर बहुत अधिक है। वास्तव में जो नैतिक दृष्टि से अच्छा है वह धार्मिक भी है, और जो धार्मिक दृष्टि से अच्छा है, वह नैतिक भी है। आचारनियम धार्मिक विचारों की पुष्टि करते हैं। इस दृष्टि से धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

### आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र (Ethics and Philosophy)

संसार तथा उसके तत्त्व-सम्बन्धी प्रश्नों की विवेचना दर्शनशास्त्र में की जाती है। संसार क्या है, मनुष्य का उसमें क्या स्थान है ? आत्मा तथा परमात्मा क्या है ? उसकी प्रकृति क्या है ? इत्यादि प्रश्न इस शास्त्र के हैं। दर्शन का सम्बन्ध पदार्थों की वास्तविकता से है।

आचारशास्त्र दर्शन से सम्बन्धित है। उसकी समस्याओं का समाधान दर्शन की विवेचनाओं पर अधिकतर निर्भर है। जिस प्रकार के दार्शनिक विचार होते हैं, हमारे नैतिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जड़वाद (Materialism) पर ही सुखवाद (Hedonism) आधारित है। यदि जड़ जगत ही वास्तविक है, तो मनुष्य का ध्येय अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना ही होना चाहिए। इस तरह सुखवाद की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही चेतनवाद (Spiritualism) पर पूर्णतावाद (Perfectionism) की नींव है। बिना किसी दार्शनिक आधार के आचारशास्त्र एक कल्पना है।

इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता, मनुष्य की नैतिक प्रकृति इत्यादि प्रश्नों की विवेचना दर्शनशास्त्र में होती है। आचारशास्त्र उन्हीं पर अवलम्बित है। आचारशास्त्र को आचार-दर्शन भी कहा गया है।

इसलिए दर्शन आचारशास्त्र का आधार है। पर दोनों में अन्तर भी है।

दर्शन का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से विस्तृत है। आचार सम्बन्धी समस्याएँ दर्शन का एक अंग हैं। दर्शनशास्त्र में अन्य समस्याओं पर भी विचार किया जाता है।

दर्शनशास्त्र सैद्धान्तिक है। उसमें किसी भी विषय का चिन्तन ज्ञान की दृष्टि से किया जाता है। आचारशास्त्र व्यावहारिक तथा आदर्श-निर्देशक है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन और व्यवहार से है।

### भारतीय आचार-परम्परा

भारत के तीनों प्राचीन धर्मों—वैदिक, जैन और बौद्ध—ने अपनी परम्परा और पद्धति के अनुरूप आचारों की प्ररूपणा की है। भारत की प्रजा में प्राचीन काल से ही आचार अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय जन-जीवन का वह अभिन्न अंग रहा है। लोक-जीवन की प्राणशक्ति ही आचार है। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का मूल आधार आचार रहा है। आचारहीन जीवन को भारत की प्रजा कभी सहन नहीं कर सकती। आचारसम्पन्न व्यक्ति यदि अनक्षर भी हो तो उसका सत्कार होगा। विद्वान यदि

आचार-हीन है तो उसका तिरस्कार ही होगा। आचार-हीन व्यक्ति को न वेद पवित्र कर सकते हैं, न आगम एवं पिटक ही। भारत के जन-जीवन में सदा से ही आचार की प्रतिष्ठा रही है। अतः श्रुति, स्मृति, आगम एवं पिटकों में आचार की ही गरिमा तथा महिमा रही है और आज भी है।

वैदिक परम्परा का आचार, जैन परम्परा का चारित्र और बौद्ध परम्परा का विनय-भावनात्मक रूप में ये तीनों एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। परन्तु पद्धति तीनों की एक नहीं रही है। कारण यह है कि तीनों का आधारभूत तत्त्व अलग-अलग है। एक का आधार है वेद, दूसरे का आधार है आप्त और तीसरे का आधार है, बुद्ध। वेद, तीर्थंकर और बुद्ध ही भारतीय आचार के मापदण्ड रहे हैं। वेद किसी भी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। तीर्थंकर और बुद्ध निश्चय ही व्यक्ति विशेष हैं। वेद अपौरुषेय है। अतः उसमें विहित कर्म भी अपौरुषेय ही होगा। उसका अर्थ है-नित्य, सनातन, सदाकालीन। तीर्थंकर के अनुयायी और बुद्ध के अनुगामी-इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। तीर्थंकर-आचीर्ण आचार को ही वे चारित्र कहते हैं। बुद्ध-आसेवित आचार को ही वे विनय कहते हैं। तीर्थंकर और बुद्ध-दोनों ही अपनी परम्परा में आप्त पुरुष हैं। आप्त की वाणी ही आगम एवं पिटक हैं। आगम और पिटक में निहित जो भी कर्म अथवा क्रिया है, वह चारित्र एवं विनय है। विहित कर्म आचार है, और निषिद्ध कर्म अनाचार। अनाचार कभी धर्म नहीं हो सकता। वह तो अधर्म ही है। अतः जो कुछ वेद-विहित है, तीर्थंकर-आचीर्ण है तथा बुद्ध-आचरित है, वह सब आचार है, शेष सभी अनाचार है। भारतीय आचार पद्धति की इस व्यवस्था एवं परम्परा को ही भारतीय आचार-शास्त्र कहा गया है।

भारतीय आचारशास्त्र के तीन प्रवाह रहे हैं-वैदिक आचार, जैन चारित्र और बौद्ध विनय। आचार शब्द बहुअर्थी एवं बहुआयामी रहा है, अतः आगम, पिटक एवं श्रुति-स्मृति शास्त्र में परिष्पाप्त है। चारित्र एवं विनय शब्द का प्रयोग भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। विनय शब्द का प्रयोग वैदिक शास्त्र में एवं जैन शास्त्र में अन्य अर्थों में है; केवल आचार धर्म में नहीं। बौद्धशास्त्र में यह केवल आचार अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः यह एक पारिभाषिक शब्द है।

भारतीय आचारशास्त्र के मूलभूत ग्रन्थ तीन हैं-स्मृति, आचारांग और विनयपिटक। स्मृति वेद का अनुगमन करती है। आचारांग चरम तीर्थंकर महावीर की प्रथम देशना है। विनयपिटक बुद्ध के अनुभूत शिक्षापद हैं। वैदिक परम्परा का मूल आधार है-वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और यज्ञ-होम। अन्य शेष सब इसी का विस्तार है। जैन परम्परा का मूल आधार है-अहिंसा। अन्य व्रत नियम केवल अहिंसा के ही आयाम हैं। अहिंसा का ही विस्तार है-तप और संयम। अमृषावाद, अस्तेय, अकाम, और अपरिग्रह-ये सब अहिंसा के ही परिजन-परिवार हैं। अहिंसा के ही अस्तित्व में इन सबका अस्तित्व है। अतः अहिंसा ही जैन आचार है। बौद्ध परम्परा का मूल आधार है-अष्टांग

मार्ग। विनय उसी का ही विस्तार है। विनयपिटक के जितने भी शिक्षापद हैं, वे सब अष्टांग मार्ग की देन हैं। अतः मूल में यही बौद्ध परम्परा का विनय एवं आचार है।

### वैदिक आचार

आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और धर्म की रूप-रेखा जानने का एवं समझने का एक मात्र साधन वेद ग्रन्थ ही हैं। परम्परा से श्रुत (सुना हुआ) होने के कारण वेद को श्रुति कहा गया है। मनु ने अपनी स्मृति में कहा है—

“श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः ।”

वैदिक साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है—ज्ञानकाण्ड और कर्म-काण्ड। प्रथम में संहिता एवं उपनिषदों का समावेश होता है तथा द्वितीय में ब्राह्मण ग्रन्थ एवं कल्पसूत्र ग्रन्थों का। यज्ञ-यागादि का पूर्ण परिचय कल्पसूत्रों से होता है। कल्पसूत्रों के दो विभाग हैं—श्रौत सूत्र, स्मार्त सूत्र। श्रौतसूत्र श्रुति से प्रसूत हैं इसलिए श्रौत सूत्र कहे जाते हैं। आर्यों के मूल आचार अथवा याग पद्धति का परिबोध श्रौत-सूत्रों से ही होता है। स्मार्तसूत्रों की संरचना स्मृति के आधार पर हुई है। स्मार्तसूत्रों के भी दो विभाग हैं—गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के आचार, अनुष्ठान और यज्ञ करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले षोडश संस्कारों का भी वर्णन किया गया है। जो आर्यों का विशेष आचार है। धर्मसूत्रों में धार्मिक नियम, राजा और प्रजा के अधिकार तथा कर्तव्यों का विधान किया गया है। वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था का पूर्ण परिज्ञान कराया गया है। धर्मसूत्रों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई है। स्मृतियों की संख्या अनियमित है। परन्तु दो स्मृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति।

महाकवि कालीदास ने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में ही स्मृति को वेदानुगामिनी कहा है। वेद के अर्थ का ही स्मृति ग्रन्थ अनुचिन्तन करते हैं। लोक-मंगल की भावना से जनकल्याण के लिए वेद विहित व्यवस्था देते हैं। इसी आधार पर स्मृतियों को धर्मशास्त्र की संज्ञा प्राप्त होती है। वे लोकाचार का प्रतिपादन करते हैं। मनु ने आचार को परम धर्म कहा है। सदाचार का विस्तार से वर्णन मनु ने किया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। अतः स्मृति ग्रन्थ आचार-शास्त्र हैं।

### स्मृति प्रतिपादित आचार

वैदिक परम्परा में गौतमधर्मसूत्र सर्वाधिक प्राचीन है। धर्मसूत्रों को आधार मानकर ही विभिन्न स्मृतियों का संगुम्फन किया गया है। स्मृतियों में सबसे प्राचीन है—मनुस्मृति। जिसमें वैदिक आचार का सर्वांगीण विकास हुआ है। प्रायः सभी स्मृतियों का एक ही विषय है—देश एवं काल के अनुसार आचार की मीमांसा करना तथा प्रसुप्त जन चेतना को प्रबुद्ध करके धर्म की ओर उन्मुख करना। जो जन-जीवन, राजधर्म और अर्थ-शास्त्र के अधीन होकर चल रहा था उसे मनु ने अपनी स्मृति में धर्म के अधीन लाकर धर्मशास्त्र

का उपजीवक बना दिया। यही था मनु का अपना मौलिक नवीन चिन्तन। उस युग में मनु के आचार एवं विचार का खुलकर स्वागत हुआ। वर्णधर्म और आश्रमधर्म—स्मृतियों का मुख्य विषय रहा है। हिन्दू समाज के लिए ये धर्म-शास्त्र ही नहीं हैं, अपितु विधि ग्रन्थ भी हैं। अंग्रेजी शासन काल में इसी को हिन्दू लॉ, धर्म कहा गया था। भारतीय आचार परम्परा के ये प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं।

### स्मृति रचना काल

आचार-शास्त्र और धर्म-शास्त्र के मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या एवं परिभाषा करने वाले स्मृति ग्रन्थों की संरचना किस काल में प्रारम्भ हुई और किस काल में परिसमाप्त हुई इसका निर्णय करना आसान नहीं है। भारतीय धर्मशास्त्रों का इतिहास जिन्होंने लिखा है, उनके अनुसार स्मृति ग्रन्थों के निर्माण को तीन युगों में विभाजित किया गया है—प्रथम युग—ईसा पूर्व ६०० से १०० तक। द्वितीय युग—ईसा १०० से ८०० तक और तृतीय युग—ईसा ९०० से १८०० तक। प्रथम युग धर्म-सूत्रों का है, जो स्मृतियों का मूल स्रोत हैं। द्वितीय युग धर्मसूत्रों की व्याख्या का है और साथ ही स्मृतियों के निर्माण का प्रारम्भ भी। इतिहासकारों की दृष्टि में शृंग युग ही स्मृति निर्माण का युग है। “धर्मशास्त्र का इतिहास” पुस्तक के लेखक बी. पी. काणे का मत है, कि मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति से बहुत प्राचीन है क्योंकि मनुस्मृति में न्याय सम्बन्धी बातें पूर्ण रूप से नहीं हैं, लेकिन याज्ञवल्क्य स्मृति में ये सब बातें पूर्ण रूप में हैं। याज्ञवल्क्य की तिथि कम से कम तृतीय शताब्दी है। अतः मनुस्मृति को उनसे बहुत पहले होना चाहिए। मनुस्मृति की रचना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त द्वितीय शताब्दी के मध्य कभी हुई होगी। महाभारत मनुस्मृति के बाद की रचना है।

### मनु और याज्ञवल्क्य

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में काफी समानता है। फिर भी याज्ञवल्क्य मनु की बहुत-सी बातों को स्वीकार नहीं करते। विभिन्नता इस प्रकार है—मनु ब्राह्मण को शूद्र कन्या से विवाह करने का विधान करते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य नहीं करते। मनु पुत्रहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दायभाग पर मौन हैं, याज्ञवल्क्य इस विषय में स्पष्ट हैं। विधवा को उसका हक दिलाते हैं। मनु जुआ की निन्दा करते हैं, याज्ञवल्क्य जुआ को राज्य नियन्त्रण में रखकर राजकीय कर का एक हिस्सा बना देते हैं। इस प्रकार मनु के और याज्ञवल्क्य के आचार में काफी अन्तर है।

वेद धर्म का मूल है—“वेदो धर्मस्य मूलम् ।” यह कथन गौतमसूत्र का है। मनुस्मृति में धर्म के पाँच उपादान हैं—वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुजनों का आचार और आत्म तुष्टि। याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेद, स्मृति, सदाचार, शिष्टजनों का आचार—व्यवहार और जो अपने को अच्छा लगे तथा शुभ संकल्प—यही धर्म के उपादान हैं, जो परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार धर्म के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य के विचार एक

होते हुए भी कहीं-कहीं पर काफी बड़ा अन्तर भी है। आचार पर देश एवं काल का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है।

### याज्ञवल्क्य स्मृति

वैदिक आचार ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य स्मृति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है। इसके प्रणेता एक महर्षि, दार्शनिक एवं योगीश्वर थे। इसकी रचना मिथिला में हुई है। मिथिला मगध का एक सांस्कृतिक स्थल रहा है। वैदिक परम्परा और जैन परम्परा का मुख्य केन्द्र। याज्ञवल्क्यस्मृति धर्मशास्त्र प्रेणता महर्षि याज्ञवल्क्य की एक महनीय कृति है। वैदिक परम्परा के आचार ग्रन्थों की सम्पूर्ण पूर्व परम्परा इसमें समाहित हो चुकी है। आचार अथवा धर्म का कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिसका समावेश इसमें न हो गया हो। प्रणेता ने अपने सम्पूर्ण स्मृति ग्रन्थ को तीन विभागों में विभाजित किया है और विषयानुरूप समुचित स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में दो हजार सात सौ श्लोक हैं। मनुस्मृति का परिमाण बहुत अधिक है। विषय व्यवस्था भी इतनी सुन्दर नहीं है। याज्ञवल्क्य स्मृति में वेद, वेदांग, योग, अध्यात्म, दण्ड-नीति, धर्म और आचार की सुन्दर व्याख्या एवं व्यवस्था है। तीन अध्यायों में वह विभक्त है—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। आचार ग्रन्थों का इस प्रकार का विभाजन जैन आचार को व्यवस्थित एवं स्थिर करने वाले छेदसूत्रकार आचार्य भद्रबाहु ने किया था—आचार-दशा, कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र।

### बौद्ध आचार

वैदिक आचार गृहस्थ के लिए है। उसमें संन्यास का महत्त्व उतना नहीं, जितना गृहस्थ का। वानप्रस्थ और संन्यास के नियम बहुत कम, बहुत संक्षेप में हैं। यतिधर्म संग्रह जैसे ग्रन्थ हैं अवश्य; परन्तु संन्यास एवं यति के आधार पर जैन एवं बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट है। उनके नियम, उपनियम तथा उनकी जीवनचर्या, श्रमणों जैसी है। जैन और बौद्ध संन्यास-प्रधान धर्म रहे हैं। गृहस्थ के आचार एवं चर्या की दोनों में उपेक्षा रही है। क्योंकि दोनों श्रमण परम्पराओं में त्याग की प्रधानता रही है, भोग की नहीं। ब्राह्मण परम्परा में इससे विपरीत स्थिति है।

बौद्ध परम्परा का मुख्य आचार ग्रन्थ है—विनयपिटक। इसमें भिक्षु एवं भिक्षुणी के आचार का कथन विस्तार से किया गया है। वस्त्र, पात्र, खान-पान और आने-जाने के नियम हैं। बौद्ध संघ में विनयधर भिक्षु का उतना बड़ा गौरव है, जितना बड़ा गौरव जैन संघ में आचारांगधर और प्रकल्पधर श्रमण का माना जाता है।

विनयपिटक तीन विभागों में विभक्त है—विभंग, महावग्ग, और चुल्लवग्ग। विभंग दो भागों में विभक्त है—भिक्षुप्रातिमोक्ष और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष। विभंग भिक्षु वर्ग की आचार संहिता एवं प्रायश्चित्त संहिता है। विनय को बुद्धशासन का मूल कहा गया है। भिक्षु प्रातिमोक्ष में परिपालनीय नियमों की संख्या दो सौ सत्ताईस है और भिक्षुणी

प्रातिमोक्ष में तीन सौ ग्यारह नियमों की संख्या है। महावग्ग में भगवान बुद्ध की जीवनी से लेकर प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास एवं प्रवारणा आदि का वर्णन किया है। चुल्लवग्ग में छोटी-मोटी शिक्षाओं और नियम उपनियमों का विधान किया गया है। जैसे कि स्नान, आभूषण, केश, कंधी, दर्पण, लेप, मालिश, नाच, तमाशा आदि के सम्बन्ध में निषेध किया गया है। अतः विनयपिटक बौद्ध परम्परा के आचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

परन्तु इसमें कहीं पर भी उपासक एवं श्रावक के आचार का कथन नहीं है। जैन परम्परा में भी यही स्थिति है। आचारांग, आचारचूला और आचारप्रकल्प में कहीं पर भी श्रावक के लिए कुछ भी नहीं कहा गया है। क्योंकि दोनों श्रमण परम्पराएँ संन्यासप्रधान हैं। भिक्षु चर्या प्रधान है। अतः दोनों परम्पराएँ आचार को मुख्यता प्रदान करने वाली रही है।

## जैन आचार-शास्त्र

भारतीय दर्शनों में तत्त्व परिचर्या अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुकी है। सांख्य और वेदान्त दोनों ही दर्शन ज्ञानवाद को प्रधानता देते रहे हैं। न्यायदर्शन प्रमाण एवं प्रमेय की चर्चा ही अधिक करता है। वैशेषिक दर्शन में तत्त्व मीमांसा बहुत ही सूक्ष्म रूप में की गई है और विशेषतः उसमें परमाणुवाद की चर्चा अत्यन्त गहन एवं जटिल है। वैदिक परम्परा में आचार अथवा क्रियाकाण्ड की विचारणा करने वाले दो दर्शन हैं—मीमांसादर्शन और योगदर्शन। इन दोनों की आचार मीमांसा अथवा क्रियाकाण्ड की विचारणा विभिन्न पद्धतियों पर आधारित है। वैदिक परम्परा में आचार एवं चारित्र शब्द का प्रयोग कम है। उसके स्थान पर कर्म और क्रिया का प्रयोग अधिक हुआ है। मीमांसा यज्ञवादी दर्शन है। आचार के नाम पर यज्ञ की ही क्रियाओं का वर्णन किया गया है। योगदर्शन का आचार-पक्ष आध्यात्मिकता पर अवलम्बित है क्योंकि उसमें चित्तवृत्तियों का अधिक विश्लेषण किया गया है। उसमें इन्द्रिय-दमन और मनोजय के उपाय बतलाये गये हैं।

## जैन और बौद्ध

जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा मूलतः आचारवादी परम्पराएँ रही हैं। इन दोनों परम्पराओं में तत्त्व की अपेक्षा आचार की व्याख्या एवं विश्लेषण अधिक हुआ है। परन्तु दोनों परम्पराएँ आचार पर बल देते हुए भी दोनों की पद्धति में महान अन्तर है। बौद्ध परम्परा में आचार के स्थान पर दो शब्दों का प्रयोग हुआ है—शील एवं विनय। शील का सम्बन्ध गृहस्थ-जीवन से अधिक है, भिक्षु-जीवन से कम। किन्तु, विनय का अर्थ बौद्ध परम्परा के अनुसार भिक्षु का आचार अर्थात् साध्याचार होता है। जैन परम्परा में आचार और चारित्र शब्द का प्रयोग किया गया है। जैन परम्परा का आचारशास्त्र व्यवस्थित, विशाल और बहुआयामी है। जैन परम्परा में धर्म के दो भेद हैं—आगारधर्म एवं अणगारधर्म। इसी को श्रावकाचार और श्रमणाचार भी कहा जाता है।

## जैन आचार-शास्त्र के ग्रन्थ

जैन आचार का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में विपुल मात्राओं में लिखे गये हैं। जैन परम्परा के जो आचार ग्रन्थ हैं उनका क्रमिक अध्ययन इस प्रकार से किया जा सकता है—

### श्रमणाचार :

- |                 |                     |
|-----------------|---------------------|
| १. आचारांग      | १०. जीतकल्प         |
| २. दशवैकालिक    | ११. पिण्डनिर्युक्ति |
| ३. आवश्यक सूत्र | १२. ओघनिर्युक्ति    |
| ४. आचारदशा      | १३. मूलाचार         |
| ५. बृहत्कल्प    | १४. मूलाराधना       |
| ६. व्यवहार      | १५. अनगार धर्माभूत  |
| ७. निशीथ        | १६. आचारसार         |
| ८. महानिशीथ     | १७. प्रवचनसारोद्धार |
| ९. पंचकल्प      | १८. यति-जीतकल्प     |

### श्रावकाचार :

- |                         |                         |
|-------------------------|-------------------------|
| १. उपासक दशांग          | ११. ज्ञानार्णव          |
| २. धर्मबिन्दु           | १२. श्रावक प्रतिक्रमण   |
| ३. योगशास्त्र           | १३. पंचप्रतिक्रमण       |
| ४. तत्त्वार्थसूत्र      | १४. पाक्षिक सूत्र       |
| ५. आचार दिनकर           | १५. सावयपण्णत्ति        |
| ६. रत्नकरण्ड श्रावकाचार | १६. सावयधम्मविहि        |
| ७. वसुनन्दि श्रावकाचार  | १७. पुरुषार्थसिद्धयुपाय |
| ८. सागारधर्माभूत        | १८. श्रावकाचार          |
| ९. अमितगति श्रावकाचार   | १९. लाटी संहिता         |
| १०. उपासकाध्ययन         | २०. श्राद्धविधि         |
|                         | २१. श्रावकधर्मप्रदीप    |

### आचार, कल्प और समाचारी

श्रमण परम्परा में और मुख्यतः जैन परम्परा में आचार पर अत्यधिक बल दिया गया है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। आचार शब्द को लेकर ही जैनों में विभिन्न सम्प्रदाय खड़े हुए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बरों में मुख्यतः परिग्रह एवं अपरिग्रह की व्याख्या को लेकर ही भेद पड़ा है। श्वेताम्बरों की मान्यता के अनुसार मूर्च्छाभाव ही परिग्रह है, वस्तु



नहीं। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा में वस्तुओं को परिग्रह कहा गया है। जैन परम्परा में सचेलवाद के मूल में परिग्रह ही मुख्य है। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों में जो आज भेद दृष्टिगोचर होता है, उसका मुख्य आधार हिंसा-अहिंसा की व्याख्या ही रहा है। श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी—ये सब भेद आचार ऋ लेकर ही मुख्य रूप में प्रचलित हुए हैं। अतः आचार की विस्तृत व्याख्या का जैन परम्परा में होना सहज एवं स्वाभाविक था। आचारांग सूत्र, उसकी निर्युक्ति, उसकी चूर्ण और उसकी संस्कृत टीका में आचार के स्वरूप पर अत्यधिक विस्तार से विचार किया गया है। दशवैकालिक सूत्र, उस पर निर्युक्ति, उस पर चूर्ण एवं उस पर विविध संस्कृत टीकाओं में आचार का ही मंथन किया गया है। छेदसूत्रों एवं उन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण एवं संस्कृत टीकाओं का, जो एक विशाल साहित्य है, वह सब साध्याचार को लेकर ही लिखा गया है।

जैन परम्परा में आचार शब्द के अतिरिक्त कल्प और समाचारी शब्द का अर्थ भी आचार ही होता है, फिर भी आचार की अपेक्षा कल्प और समाचारी ये दोनों ही सीमित शब्द हैं तथा इन तीनों के अर्थ में भी पर्याप्त भेद है। वस्तुतः जैन परम्परा में मूल-गुणों को ही आचार कहा गया है। कल्प और समाचारी शब्दों का प्रयोग उत्तरगुणों के लिए किया गया है। मूलगुणों की संरक्षा के लिए जो छोटे-बड़े नियम एवं उपनियम बनाए गये एवं जिनका पालन किया जाता है, वस्तुतः वही कल्प और समाचारी है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार कल्प और समाचारी में पर्याप्त भेद और प्रभेद होते रहे हैं। इसके स्पष्ट प्रमाण आज भी आगमों में उपलब्ध हैं।

### प्राचीन साध्याचार

आचारांग-सूत्र में जिस साध्याचार का वर्णन उपलब्ध है, दशवैकालिक सूत्रगत साध्याचार में उसकी अपेक्षा काफी विकास हुआ है। इस सत्य को स्वीकार करना ही चाहिए। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रधारी भिक्षुओं के विषय में विशेष विवेचन आता है। साधुओं के उत्कृष्ट आचार का पालन करने वाले भिक्षु अनेक प्रकार के हैं—एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, त्रिवस्त्रधारी और बहुवस्त्रधारी। पात्र के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। आचारांग-सूत्र में भिक्षु एवं भिक्षुणी के लिए पिण्डैषणा, पात्रैषणा, शय्यैषणा आदि का जो विस्तार से वर्णन किया गया है, उस प्रकार के उत्कृष्ट साध्याचार का वर्णन अन्यत्र दुर्लभ ही है। गोचरी के लिए भिक्षु एवं भिक्षुणी किस कुल में जाएँ और किस कुल में न जाएँ, इसका रोचक वर्णन विस्तार से किया गया है। वृत्तिकारों एवं टीकाकारों ने इनकी व्याख्याएँ विभिन्न प्रकार से की हैं। आचारांग-सूत्र में यह भी कहा गया है कि भिक्षा के लिए जाने वाला भिक्षु अपने सब उपकरण अपने साथ रखकर ही भिक्षा के लिए जाय। भिक्षार्थ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भी इसी नियम का पालन किया जाता था।

भिक्षु और भिक्षुणी को किस प्रकार का जल लेना चाहिए और किस प्रकार का नहीं लेना चाहिए, इसका भी विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन किया गया है। किस प्रकार का पानी भिक्षुक को लेना चाहिए, उसके सम्बन्ध में कहा गया है—तिलोदक, तन्दुलोदक, तुषोदक, आम्रपानक, द्राक्षापानक तथा खजूर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, इमली का पानी, एवं आंवले का पानी आदि जल साधु के लिए ग्राह्य हैं। भिक्षु को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए और किस प्रकार की भाषा नहीं बोलनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में भी निश्चित विधान किये गये हैं। भिक्षु किस प्रकार के मकान में रहे और किस प्रकार के मकान में न रहे तथा उसे किस स्थान पर कितना रहना चाहिए और वहाँ से कब विहार कर देना चाहिए; वस्त्र, पात्र, तथा अन्य उपकरणों की याचना किससे और किस प्रकार करनी चाहिए, इसकी सुन्दर व्याख्या की गई है। एक बार भोजन करने का विधान है, एक ही दिन में बार-बार आहार करने का विधान नहीं है।

### साधु कल्प

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर दस प्रकार के कल्पों का वर्णन किया गया है, जिनका परिपालन मूलगुणों की संरक्षा के लिए आवश्यक है। किन्तु इन कल्पों में कुछ कल्प स्थित हैं, कुछ अनवस्थित। राजपिण्ड एवं प्रतिक्रमण आदि कल्प स्थित नहीं हैं। क्योंकि मध्य के बाईस तीर्थकरों की परम्परा के अनुसार राजपिण्ड लेना कोई दोष नहीं था तथा प्रतिदिन उभयबेला में प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं था। परन्तु प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और चरम तीर्थकर भगवान महावीर के शासन में राजपिण्ड लेना निषिद्ध माना गया तथा प्रतिदिन उभयबेला में प्रतिक्रमण करना अनिवार्य हो गया। इन दस प्रकार के कल्पों में समयानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। अतः दस प्रकार के कल्प उत्तरगुण कहे जाते हैं। क्योंकि उनमें समय-समय पर परिस्थितिवश एवं आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने की छूट गीतार्थ मुनि को सहज ही उपलब्ध रही है।

साधु समाचारी का अर्थ है—साधु-जीवन के लिए नित्य कर्मों की व्यवस्था। रात और दिन में साधु को किस कार्यक्रम के अनुसार अपना साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहिए—इस प्रकार का विधि-विधान ही साधु समाचारी है। प्राचीन काल में साधु-समाचारी के अनुसार साधुजन अपना साधनामय जीवन इस प्रकार से व्यतीत करते थे—दिन की प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में आहार-पानी, एवं विहार और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय। रात्रि में प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में शयन-निद्रा और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय। इस समाचारी में स्वाध्याय एवं ध्यान पर विशेष बल दिया गया है।

वस्तुतः साधु-जीवन की सच्ची साधना, स्वाध्याय एवं ध्यान ही है। भिक्षुणी एवं भिक्षु के जीवन का एक भी क्षण व्यर्थ न जाय तथा प्रमत्त भाव में व्यतीत न हो, इस व्यवस्था का नाम ही वस्तुतः साधु समाचारी है। इस साधु समाचारी के अनुसार जीवन

व्यतीत करने वाले साधु एवं साध्वी ज्ञानी, ध्यानी एवं तपस्वी तथा संयमी होते थे। साध्वी एवं साधु के लिए यह भी आवश्यक था, कि वह आचारांग सूत्र तथा निशीथ सूत्र का प्रतिदिन स्वाध्याय करें, ताकि वे विस्मृत न हो जायें। यदि ये विस्मृत हो जाते थे, तो उसके लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान भी छेदसूत्रों में है। यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी इसलिए भूल गया है कि वह अस्वस्थ था, रोगी था अथवा दुर्भिक्ष था, उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। यदि प्रमत्तभाव से उसने इन शास्त्रों को विस्मृत कर दिया है, तो उस स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान है। साधु हो या साध्वी हो, यदि इन दो शास्त्रों का उसने विधिवत् अध्ययन नहीं किया है, तो उसे स्वतन्त्र होकर विहार करने का भी निषेध था। इन दोनों शास्त्रों का परिज्ञाता न होने के कारण उसे आचार्य पद, उपाध्याय पद एवं प्रवर्तक पद तथा प्रवर्तिनी पद नहीं दिया जाता था।

### साधु जीवन में परिवर्तन

प्राचीन-युग से लेकर आज तक के युग में साधु-जीवन में काफी परिवर्तन आ चुका है। खान-पान, रहन-सहन, लेना-देना तथा करना-कराना आदि में प्राचीन युग के नियमों का पूरी तरह परिपालन आज नहीं हो पा रहा है। जैसे कि जैन भिक्षुओं की मन, वचन एवं काय के हिंसा न करने, न करवाने तथा करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन युग के जैन भिक्षु एवं निर्ग्रन्थ इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिस वस्तु को प्राप्त करने में हिंसा की तनिक भी संभावना रहती थी, उस प्रकार की किसी भी वस्तु को वे स्वीकार नहीं करते थे। आचारांग सूत्र एवं छेदसूत्रों को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम पड़ जाती है।

इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचरण के कारण ये श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर अपनी चर्या में किसी प्रकार की ढील नहीं रखते थे। जहाँ कहीं हिंसा या परिग्रह की संभावना होती, उन प्रवृत्तियों का वे परित्याग कर देते थे। यहाँ तक कि शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। हिंसा एवं परिग्रह की संभावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन निस्पृह साधुओं ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनकी इस अहिंसापरायणता का उल्लेख बृहत्कल्प नामक छेदसूत्र के भाष्य में स्पष्टतया आज भी उपलब्ध है। उसमें स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखने वाला श्रमण प्रायश्चित्त का भागी होता है। उक्त आगम में बताया गया है कि पुस्तक पास में रखने वाले श्रमण में प्रमत्त दोष उत्पन्न होता है। पुस्तक पास में रहने से स्वाध्याय में प्रमाद का संभावना रहती है। धर्म प्रवचनों को कंठस्थ रखकर उनका बार-बार स्मरण करना स्वाध्याय रूप आन्तरिक तप कहा गया है। पुस्तकें पास रहने से यह तप मन्द होने लगता है।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद साधु संघ के आचार में शिथिलता आने लगी। उसके विभिन्न सम्प्रदाय बनने लगे। सचेलक एवं अचेलक-परम्परा प्रारम्भ हुई। वनवास

कम होने लगा। लोक-सम्पर्क बढ़ने लगा। साधुजन चैत्यवासी भी होने लगे। चैत्यवास के साथ उनके साधनामय जीवन में परिग्रह प्रविष्ट हुआ। इस समय श्रमणों ने अपनी जीवन चर्या में अनेक अपवाद भी स्वीकार किये। अतः उन्हें इस लिखने-लिखवाने की प्रवृत्ति का अपवाद भी स्वीकार करना पड़ा। भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने श्रुत को जब पुस्तक बद्ध एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया, तब उनका घोर विरोध हुआ था। अहिंसा के साधकों को यह हिंसा-प्रवृत्ति कैसे स्वीकार हो सकती थी? पर, आज समस्त साधुजन, फिर चाहे वे किसी भी परम्परा के क्यों न हों, देवर्धिगणी क्षमाश्रमण का गुणोत्कीर्तन ही करते हैं।

### पुरातन-युग का निर्ग्रन्थ-संघ

पुरातन-युगीन निर्ग्रन्थ-संघ के जीवन पर आचारांग सूत्र में विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इतना ही नहीं, बल्कि आचारांग सूत्र का समग्र विधान यह प्रमाणित करता है कि साधु-जीवन का मुख्य ध्येय क्या है और उसे क्या करना चाहिए? उस समय के निर्ग्रन्थ आचारसम्पन्न, विवेक-सम्पन्न, त्यागी, तपस्वी और श्रुतधर होते थे। उनके जीवन का लक्ष्य जन-सम्पर्क नहीं था, एकान्त में रहकर तप-ध्यान की साधना करना ही था। भगवान् महावीर के समय उत्कृष्ट त्याग, तप एवं संयम के अनेक जीते-जागते आदर्शों की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप-त्याग अंगीकार करने के बाद भी उसमें स्थिर, दृढ़ एवं कठोर नहीं रह पाते थे। इस प्रकार के अनेक प्रमाण छेदसूत्रों में तथा उनके व्याख्या ग्रन्थ निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णियों में स्पष्ट रूप में आज भी उपलब्ध हैं। यह एक निश्चित बात है कि निर्ग्रन्थों के उपकरणों की संख्या में निरन्तर धीरे-धीरे वृद्धि होती रही है। साधुओं की अपेक्षा साध्वियों के उपकरण और भी अधिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन युग से आज तक साधु-जीवन के आचार में आवश्यकता के अनुसार तथा युगानुकूल परिस्थितियों के कारण काफी परिवर्तन होते रहे हैं।

### महावीर की परम्परा में श्रुत का महत्त्व

भगवान् महावीर ने धर्म के दो भेद बतलाये हैं—श्रुतधर्म और चारित्र धर्म। पाँच ज्ञानों में से एक श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का साधक-जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राचीन काल से ही रहा है। श्रुतज्ञान के बिना आचार एवं उसका स्वरूप ही नहीं जाना जा सकता। अतः श्रुत धर्म की आराधना के बाद ही चारित्रधर्म की आराधना की जा सकती है। आचारांग सूत्र के दो श्रुतस्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध में आचार के पाँच भेद प्रतिपादित किये गये हैं—१. ज्ञानाचार, २. दर्शनाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार और ५. वीर्याचार। इसके अतिरिक्त अन्य कोई आचार नहीं है। जिनवाणी में प्रतिपादित मूलगुण तथा उत्तरगुण आदि सबका समावेश इन पाँचों में ही हो जाता है। इस पंचविध आचार में भी सर्व-प्रथम ज्ञानाचार ही है। ज्ञानाचार को ही आचारांग आदि सूत्रों में श्रुत-धर्म कहा गया है। दर्शनाचार ज्ञानाचार से अभिन्न है। वीर्याचार आत्मा की शक्ति का नाम है। शेष रह जाते हैं—दो—चारित्राचार और तपाचार।

आजकल के अल्पश्रुतज्ञ महानुभाव इन दो को ही आचार समझ बैठे हैं। वास्तव में उनकी यह मान्यता आचार विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर इस सत्य का निर्देश है कि ज्ञान के अभाव में जो आचार होता है, वह मिथ्याचार है तथा जो तप होता है वह बालतप है। मिथ्याचार एवं बाल-तप मोक्ष के साधन नहीं हो सकते। अतः शास्त्रों में श्रुतधर्म अथवा ज्ञानाचार का महत्त्व सिद्ध हो जाता है। दशवैकालिक सूत्र में भी कहा गया है कि ज्ञान के अभाव में दया अर्थात् चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। अतः प्रथम ज्ञान है और फिर दया अर्थात् चारित्र। इसी दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि अज्ञानी आत्मा संयम को अथवा असंयम को नहीं समझ सकता। पुण्यमार्ग को अथवा पापमार्ग को, कल्याण को अथवा अकल्याण को, सुनकर ही जाना जा सकता है। यहाँ पर भी प्राथमिकता श्रुतधर्म की ही प्रतिपादित की गई है। यही तथ्य आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य तथा निशीथ चूर्ण आदि में कहा गया है।

आज के जो अल्पज्ञ लोग हैं, उन्हें आचार की क्रान्ति करने के पूर्व श्रुत-धर्म को और ज्ञानाचार को समझ लेना परम-आवश्यक है। विचार के अभाव में एकमात्र आचार-क्रान्ति का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है, बल्कि उससे दंभ एवं अहंकार का ही पोषण होगा, शुद्धाचार का नहीं।



## अध्यात्म प्रवचन : एक संदर्शन

भारतीय धर्म, दर्शन के गंभीर चिन्तक सत्य के स्पष्ट विवेचक एवं निर्भीक उद्घोषक, प्रज्ञा महर्षि राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमर मुनि का नाम, आज समस्त अध्यात्म जगत में एक जागृत प्रज्ञाशीलता का पर्याय है। प्रत्येक दिशा में उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र, तटस्थ तथा संतुलित विचार चिन्तन, जिसमें मुखरित होता है; भारतीय मनीषा का मूल स्वर, दर्शन का आलोक और धर्म का अमृत-चिन्तन।

गुरुदेव श्री अमर मुनि, एक स्थानकवासी जैन श्रमण के परिवेश में समग्र जैनत्व के प्रतीक हैं। सम्प्रदाय और रूढ़िवाद की संकीर्णता से सर्वथा मुक्त; महावीर के अनन्त सत्य का समग्रता के साथ दर्शन, प्रवचन और प्रस्थापना करने में सक्षम, वाग् देवता के वरदपुत्र, महावीर के अध्यात्मिक उत्तराधिकारी महान् मनीषी हैं।

आपश्री के अध्यात्म विषयक प्रवचनों का एक विराट संस्करण “अध्यात्म प्रवचन” भाग १, लगभग २५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। उसमें मुख्यतः दर्शन का स्पर्श करने वाले गूढ़ अध्यात्म विषयों पर बहुत ही सुन्दर, सन्तुलित और हृदय स्पर्शी प्रवचन है।

अब प्रस्तुत अध्यात्म प्रवचन (द्वितीय भाग) में ज्ञान एवं आचार के गहन तथ्यों को उद्घाटित करने वाले, तत्व चिन्तन प्रधान जीवन स्पर्शी तत्वों का विशद विवेचन प्रस्तुत है। प्रस्तुत भाग में ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत प्रमाण, नय, आदि का सारपूर्ण सर्वांग विवेचन हुआ है। तथा आचार-मीमांसा में श्रावक की आचार मर्यादा, आदर्श जीवन शैली पर नई दृष्टि से चिन्तन किया गया है।

इस प्रवचन संग्रह का सम्पादन किया है आपके ही विद्वान शिष्य श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने। श्री विजय मुनि जी एक बहुश्रुत चिन्तक तो है ही, प्रवचन एवं लेखन कला के क्षेत्र में स्वतः प्रतिष्ठापन्न हैं। अब तक ५० से अधिक पुस्तकों का सम्पादन/लेखन कर चुके हैं। पाठक उनकी प्रवाहपूर्ण लेखनी का आनन्द अनुभव करेंगे.....।

प्राप्ति स्थान—

- सन्मति ज्ञान पीठ, जैन भवन, लोहामंडी, आगरा-282 002
- वीरायतन, राजगिर, 403116 जिला नालन्दा (बिहार)